का अभिमान हो आया। मुकुट में बैठे कलियुग ने उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी। श्रेष्ठता के अभिमान ने ईर्ष्या और मत्सरता को स्थान दिया। भूख प्यास के कारण क्रोध ने अपना यथार्थ रूप प्रकट कर दिया। जब मरे सर्प को मुनि के गले में डालकर राजा चले गये, तब संयोगवश मुनियों के बालक वहाँ खेलते हुए आ पहुँचे। महातेजस्वी शमीक मुनि के गले में मरा सर्प देखकर और आश्रम से घोड़े पर चढ़कर राजा को जाते देखकर बच्चे दौड़ते हुए नदी तट पर गये। वहाँ शमीक मुनि का एक तेजस्वी बालक अन्य ऋषिकुमारों के साथ खेल रहा था। लड़कों ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा—"अरे शृङ्गी! भैया, तू यहाँ खेल रहा है, तुझे कुछ अपने पिता का भी पता है, उनके साथ कैसी दुर्घटना घटित हो गयी?"

ऋषि पुत्र ने पूछा—"क्या हुआ? भैया! बताओ, मेरे पूज्य पिताजी तो समाधि में स्थित थे, उनके साथ क्या घटना घटित हो सकती है?"

ऋषिकुमारों ने कहा—"उन्होंने स्वयं कुछ नहीं किया। इस देश का राजा परीक्षित् आया था, वह उनके गले में मरा सर्प डालकर चला गया।"

कुमार ने पूछा—"हँसी तो नहीं करते? सच बात है?"

कुमारों ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"भैया, तू ही अपने को बड़ा सत्यवादी समझता है। हम ऋषिकुमार नहीं हैं? हम तो कभी भूलकर हँसी में भी झूठ नहीं बोलते। इतने पर भी तुझे हमारी बात पर विश्वास न हो तो चलकर देख ले।"

अब तो शमीक पुत्र को बड़ा क्रोध आया। बच्चा ही था, उसे अपने ब्राह्मणपने का, तपस्वी होने का—अभिमान था, ब्रह्म तेज के कारण वह ग्रीष्म-ऋतु की अग्नि की भाँति जाज्वल्यमान था, जिसे स्पर्श करने का सहसा किसी को साहस नहीं होता।

क्या एक क्षत्रिय राजा ऐसा साहस कर सकता है ? क्या मेरे त्रैलोक्यवंदित पूज्य पिता का मेरे रहते कोई इस प्रकार अपमान कर सकता है ? यह विचार हृदय में आते ही उसके ओठ फरकने लगे, दोनों नेत्र अरुण रंग के होकर अग्नि के समान जलने लगे।

सब लड़कों को सुनाते हुए वह क्रोध में भर कर बोला—"अरे, उस अधम क्षत्रिय का ऐसा साहस ? जिस पत्तल में खाय, उसी में छिद्र करे। जिन्होंने इसे राजा बनाया, उन्हीं के साथ ऐसी धृष्टता ? यह तो वैसी ही बात हुई कि एक बनिये के घर में एक कौवा रहता था। वह लड़कों की जूठन खा-खाकर बड़ा मोटा हो गया था। अब उसे गर्व हुआ, मुटाई से वह अपने को हंसों के समान समझने लगा और हंसों के साथ होड़ लगा-कर मानसरोवर में उड़ने को उद्यत हुआ। जिस प्रकार वह कौआ हंसों की बराबरी न कर सकने के कारण अपने प्राण खो बैठा था, उसी प्रकार यह दुष्ट राजा भी अपने प्राणों को खोवेगा।"

दूसरे ऋषिकुमारों ने कहा—"भैया, वह इस देश का रक्षक है। उससे कोई क्या कह सकता है ? समस्त प्रजा की चोर, डाकुओं और बली पुरुषों से रक्षा करता है।"

अत्यन्त क्रोध में भरकर ऋषिपुत्र ने कहा—"उसे रक्षक बनाया किसने ? यज्ञ के समय हम ब्राह्मण लोग द्वार की रक्षा के लिये कुत्ता रख देते हैं कि वह द्वार की रक्षा करे। तो इसके माने यह तो नहीं होते कि वह आकर हमारे हवि को उच्छिष्ट करे, हमारे घृत में मुख डाले, स्रुक, स्रुवा को सूँघ ले। यदि वह ऐसा साहस करेगा तो उसके डंडे लगेंगे, कमर तोड़ दी जावेगी, कचूमर निकाल दी जायेगी।"

एक दूसरे बुद्धिमान बालक ने कहा—"अरे भैया, कुत्ते की दूसरी बात है। यह राजा तो मनुष्य है, वीर है, अस्त्र-शस्त्र धारण किये है।"

क्रोध करके शृङ्गी बोला—"मनुष्य है तो क्या अधर्म करेगा ? अस्त्र-शस्त्र बाँधकर क्या अन्याय करेगा ? क्या सेवक स्वामी की बराबरी कर सकता है ? किसी ने अपने द्वार पर कोई पहरेदार रख दिया कि तुम अस्त्र-शस्त्र बाँधकर घर की रक्षा करते रहो तो क्या वह द्वारपाल भीतर घुसकर स्वामी के आसन पर बैठ सकता है ? उसकी शैया का उपयोग कर सकता है अथवा उसके बर्तनों में भोजन कर सकता है ? ब्राह्मणों ने ही तो क्षत्रियों को अपना रक्षक, पहरेदार और द्वारपाल बनाया है, उसका काम मर्यादा के अन्दर रहकर अपने कर्तव्य का पालन करना है। उसे जहाँ बैठने को स्थान दिया गया है, वहीं बैठे। वह स्वामी का अपकार नहीं कर सकता। आज उसने यह धर्म विरुद्ध शिष्टता से रहित–मनमाना आचरण किया है।"

ऋषिकुमारों ने पूछा—"अब तक ऐसा क्यों नहीं होता था ? अब तक कोई राजा ब्राह्मणों का इस प्रकार अपमान क्यों नहीं करता था ?"

शृंगी ने कुपित होकर कहा—"अब तक इन सबके ऊपर परम ब्रह्मदेव भगवान् वासुदेव थे। उनके रहते हुए ऐसा अधर्म करने का साहस किसको हो सकता था ? ब्राह्मणों की इस प्रकार अवज्ञा को मन से भी कौन सोच सकता था। अब दुष्टों को दंड देने वाले भगवान् श्यामसुन्दर स्वधाम पधार गये। अब ये अधर्मी अपने को स्वतन्त्र समझने लगे। अब ये सोचते हैं–हमारा कोई क्या कर सकता है ?"

ऋषिकुमारों ने विवशता के स्वर में कहा—"तब भैया, अब क्या किया जाय ? भगवान् स्वधाम पधार गये, तब हम सबको सहन करना चाहिये। हम क्षत्रिय तो हैं नहीं कि शस्त्र लेकर अपकारी से बदला ले सकें। क्षमा ही हम ब्राह्मणों का बल है।"

अत्यन्त क्रोध के स्वर में शमीक पुत्र बोला—"क्षमा ! ऐसे दुष्ट को, कभी क्षमा किया जा सकता है ? भगवान् स्वधाम पधार गये तो क्या हुआ ? हम में क्या तपस्या का बल नहीं है। अस्त्र-शस्त्र तो दुर्बल क्षत्रिय बाँधते हैं। हमारा बल तो तप है। वाणी ही हमारा अमोघ वज्र है। आज मैं उसी अमोघ वाक्वज्र से अधर्मी राजा का अन्त कर दूँगा। उस अन्यायी नरपति को शीघ्र ही अपने किये का फल भोगना होगा। अविलम्ब उसे यमराज का सदन देखना होगा। जिसने मेरे पिता के गले से मृतक सर्प का आलिङ्गन कराया है, उसे स्वयं मृत्यु से आलिङ्गन करना होगा।"

इतना कहकर वह शमीक पुत्र क्रोध में भरकर कौशिकी नदी के जल में आचमन करके राजा को भीषण शाप देने को उद्यत हुआ।

उस समय ऋषिपुत्र के दोनों नेत्रों से क्रोध के कारण चिनगारियाँ-सी निकल रही थीं। वह अपने आपे में नहीं था। कौशिकी नदी का जल हाथ में लेकर सभी ऋषिकुमारों को सुनाते हुए वह बोला—"जिस दुष्ट कुलाङ्गार राजा ने मेरे पिता के गले में मरा सर्प पहिना दिया है, उसे आज से सातवें दिन मेरे शासन से महा विषधर तक्षक काटेगा और उसी से उसकी मृत्यु होगी।"

इस प्रकार शाप देकर वह तेजस्वी कुमार अन्य मुनिपुत्रों के सहित अपने आश्रम की ओर चला। कुमार अभी बच्चा ही था। उसकी खेलने खाने की अवस्था थी। ऋषिपुत्र होनेसे वंश परम्परागत तेज और तप उसके शरीर में व्याप्त था। फिर भी लड़कपन का स्वभाव कहाँ जा सकता है ? आश्रम में आकर जब उसने अपने पिता के गले में बड़ा भारी मरा हुआ सर्प माला की भाँति पड़ा हुआ देखा तो बच्चा अपने को

सम्हाल न सका। वह फूट-फूटकर बड़े जोरों के साथ रुदन करने लगा। उसके रुदन को सुनकर मुनि की समाधि भङ्ग हुई और वे चारों ओर नींद में उठे पुरुष की भाँति देखने लगे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! राजा ने मुनि को कई बार पुकारा तब तो मुनि की समाधि भङ्ग हुई नहीं और अपने बेटे का रुदन सुनते ही समाधि छूट गई, इसका क्या कारण है? क्या सचमुच मुनि ने राजा को देखकर आँखें बन्द कर ली थीं? नहीं तो ऐसा कैसे हो सकता है कि इतने बड़े राजा की वाणी तो सुने नहीं और छोटे बच्चे का रोना सुनते ही तुरन्त समाधि खुल जाय? हमारे इस संशय को दूर कीजिये।"

मुनि के ऐसे प्रश्न सुनकर सूतजी कहने लगे—"महाभाग! समाधि लगाने के पहिले समय का सङ्कल्प कर लेते हैं कि अमुक समय हमारी समाधि टूटे। यह सम्पूर्ण संसार सङ्कल्प के ही ऊपर अवलम्बित है। जो निःसङ्कल्प हो गया है, वह संसार सागर को पार कर गया है। समाधि में यद्यपि यह दृश्य प्रपञ्च नहीं रहता, किन्तु समय की अवधि समाप्त होते ही उसी समय बाह्य वृत्ति हो जाती है और इस दृश्यमान जगत् का इन्द्रियों के साथ पुनः सम्बन्ध हो जाता है इसका मैं एक बहुत ही स्थूल उदाहरण देता हूँ। कोई भी मनुष्य रात्रि में सोते समय दृढ़ता के साथ यह सङ्कल्प करके सोवे कि मेरी आँख उस समय खुल जाय तो ठीक उसी समय आँखें अवश्य खुल जायँगीं। उसमें एक निमेष का भी आगा-पीछा न होगा। संयोग की बात थी, जब उनका बच्चा रो रहा था, तभी समाधि के अभ्युत्थान का समय आ गया। बाह्यवृत्ति होने से मुनि का ध्यान सर्वप्रथम बच्चे के रुदन की ही ओर गया। फिर उन्होंने अपने गले में मरा हुआ काला सर्प पड़ा हुआ देखा। उसे उन्होंने हाथ से पकड़कर तुरन्त ही एक ओर फेंक दिया।"

सर्प को फेंककर वे बड़े स्नेह से अपने पुत्र से पूछने लगे—"बेटा! तुम इस प्रकार क्यों रो रहे हो? किसने तुम्हें कष्ट पहुँचाया है? किस पुरुष ने तुम्हारा अपकार किया है? किस कारण से तुम्हें इस प्रकार की मानसिक व्यथा हो रही है? यह मरा हुआ सर्प मेरे गले में कैसे आ गया। इन सब बातों को मुझे बताओ, रोना बन्द करो। इस प्रकार अधीर होना ठीक नहीं!"

पिता के ऐसा पूछने पर आँसू पोंछकर कुमार शृङ्गी ने आदि से अन्त तक सभी वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—"इस देश का राजा परीक्षित् आया था। आपको समाधि में स्थित देखकर मरा सर्प आपके गले में डालकर चला गया। जब मैंने यह समाचार सुना तो उसे उसी समय यह शाप दे दिया—"आज से सातवें दिन यही सर्प तक्षक बनकर तुम्हें काटेगा।"

अपने पुत्र के मुख से शाप की बात सुनकर मुनि अपने अपमान को तो भूल गये, उन्हें पुत्र की शाप देने की बात सुनकर बड़ा दुःख हुआ। सोचने लगे—"राम-राम, इस छोकरे ने लड़कपन के कारण यह कैसा अन्याय कर डाला? भला कहीं ऐसे धर्मात्मा राजा को ऐसा भीषण शाप दे दिया जाता है?" वे पुत्र को डाँटते हुए बोले—"मूर्ख! यह तैंने क्या लड़कपन कर दिया? तपस्या का क्या यही फल है कि तनिक-सी बात पर वाग्वज्र चला देना। निरपराध प्राणियों पर शाप का प्रहार कर देना।"

रोते-रोते बच्चे ने कहा—"पिताजी! निरपराध आप उसे कैसे बताते हैं? जो पुरुष हमारे पूज्यों का इस प्रकार अपमान करेगा, उसे हम दण्ड दिये बिना कैसे रह सकते हैं?"

घुड़कते हुए मुनि ने कहा—"चुप रह! आया कहीं का दण्ड देने वाला। ऐसे कहीं दण्ड दिया जाता है। यह तो अपने तप को

क्षीण करना है, फिर वह भी किस पर ? किसी अन्य साधारण पुरुष पर नहीं, राजा पर जो कि साक्षात् विष्णु भगवान् का अंश माना जाता है। उसी के तेज से आज हम यहाँ घोर जङ्गल में निर्भय हुए तपस्या कर रहे हैं। उसी के पुरुषार्थ के कारण यज्ञ याग आदि धार्मिक कार्यों में दुष्ट और राक्षस आकर विघ्न नहीं करते।"

डरते हुए बच्चे ने कहा—"उसने फिर ऐसा अधर्म का काम क्यों किया ?"

ऋषि ने गम्भीरता के साथ दुःख पूर्ण स्वर में कहा—"भैया ! अभी तुम बच्चे हो। तुम्हारी बुद्धि अभी कच्ची है, तुम्हें इसके परिणाम का पता नहीं कि तुम्हारे शाप से क्या-क्या अनर्थ हो सकते हैं ? देखो, यह राजा बड़ा धर्मात्मा है। इसके समान सदाचारी, बली, प्रतापी, प्रभावशाली दूसरा कोई राजा नहीं। तुम्हारे शाप से जब यह विष्णु स्वरूप नरदेव मर जायगा तो पृथ्वी पर दस्यु और चोरों का प्राबल्य हो जायगा। जब चारों ओर चोर-ही-चोर हो जायँगे तो सभी स्थानों में लूट मार मच जायगी। एक दूसरे का धन छीन लेंगे, दूसरे के पशुओं को ले जायँगे, कन्याओं के साथ बलात्कार करेंगे, स्त्रियों का हरण होगा। प्रजा में हाहाकार मच जायगा, जनता इधर-उधर बिना रक्षित भेड़ों के झुण्डों के समान भागती हुई कुँओं में गिर जायगी। सर्वत्र अनर्थ और अत्याचार का बोलबाला हो जायगा। ये सब दुःख हमें भी भोगने पड़ेंगे। हम भी इस पाप के भागीदार बनेंगे, क्योंकि हमारे ही कारण ये सब अनर्थ उत्पन्न हुए हैं।"

"इतना ही नहीं। धार्मिक राजा के न रहने से वर्णाश्रम धर्म न रहेगा। वर्णाश्रम धर्म के न रहने से वेद विहित आचार भी लुप्त हो जायँगे। आचार-विचार कुल परम्परागत मर्यादा के नष्ट

हो जाने से सभी वर्ण के लोग सभी वर्णों के साथ विवाह सम्बन्ध करने लगेंगे, सभी जहाँ-तहाँ सबके साथ सर्वत्र बिना आचार-विचार के खाने पीने लगेंगे। काम वासना बढ़ जायगी, लोक-मर्यादा नष्ट हो जायगी, लोग कुत्ते और बन्दरों की तरह गम्या-अगम्या का विचार न करके सभी वर्ण सभी प्रकार की स्त्रियों में सन्तान उत्पन्न करने लगेंगे। वे वर्णसंकर सन्तानें धर्म कर्म से हीन-परलोक कार्यों से रहित-होकर पाप कर्मों में ही प्रवृत्त रहेंगी।"

कुमार शृङ्गी यह सब सुनकर बड़े दुखी हुए और रोते-रोते बोले—"मुझे यह सब क्या पता था ? मैं तो उस राजा की अविनय सुनकर कुपित हो उठा। आपके प्रति ऐसा अभद्र व्यव-हार मेरे लिये असह्य था। मैंने समझा—यह राजा बड़ा अह-ङ्कारी, अशिष्ट, अधार्मिक और अभक्त है, जो ऋषि आश्रम में आकर भी ऐसा अनुचित व्यवहार करता है। इसीलिये मैंने ऐसा शाप दे दिया।"

महामुनि शमीक समस्त ममता बटोरकर रोते हुए अपने पुत्र से कहने लगे—"देखो, बेटा ! महाराज परीक्षित् तो बड़े ही धर्मात्मा हैं। वे समस्त भूमण्डल के चक्रवर्ती राजा हैं। उन्होंने इस कलिकाल में भी धर्म की कितनी रक्षा की है, उनके भय से ही कोई अधर्म कार्यों में प्रवृत्त नहीं हो सकता, परदारा, परधन का अपहरण नहीं कर सकता। उन्होंने बड़े-बड़े अश्वमेध आदि यज्ञ किये हैं। उनका यश त्रिभुवन में व्याप्त है। इतना ही नहीं वे बड़े यशस्वी हैं, वे भगवान् वासुदेव के अनन्य भक्त भी हैं। भगवान् ने गर्भ में ही उन्हें दर्शन दिया और गदा से उनकी द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से रक्षा की। उन्हें ऐसा शाप देना कहाँ तक उचित है ?"

कुमार ने उदास मन से कहा—"पिताजी ! जब राजा इतने

भगवत् भक्त, यशस्वी, तेजस्वी और धर्मात्मा हैं तो उन्होंने यह अनुचित कार्य क्यों किया ? उन्होंने आप जैसे तपोनिधि का अपमान क्यों किया ? आपके गले में मृतक सर्प डालने से उनका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हुआ ?"

महामुनि बड़ी गम्भीर वाणी में बोले—"बेटा ! समय बड़ा बलवान् है। वही सब करा लेता है। कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं कि मनुष्य का सभी विवेक नष्ट हो जाता है। तुम ध्यानपूर्वक राजा की परिस्थिति पर विचार करो। एक तो सम्राट् हर समय सहस्रों दास-दासी उनकी सेवा में लगे रहते हैं। संकेत पाते ही उनकी समस्त आज्ञाओं का तत्क्षण पालन होता है। बाहर जहाँ भी वे जाते हैं, बड़े-बड़े राजा पहिले से ही उनके स्वागत सत्कार के लिये प्रस्तुत रहते हैं। सदा से ऐसा होते रहने से उनका ऐसा स्वभाव बन गया है। यहाँ वे अकेले ही आये थे। वे सदा हमसे सम्मान पाते रहे हैं, यही आशा उन्हें अब भी थी। यहाँ आने पर एक तो उनका सम्मान नहीं हुआ। बुलाने पर कोई उत्तर नहीं मिला। माँगने पर भी उन्हें पानी तक प्राप्त नहीं हुआ। भूख-प्यास से वे इतने व्याकुल हो रहे थे कि उनका विवेक नष्ट हो गया था। ऐसी दशा में यदि उन्होंने कोई तनिक-सा अनुचित कार्य मान लो, कर भी दिया तो उसके बदले में हम लोगों को उन्हें ऐसा घोर शाप देना क्या उचित है ? छिः तुमने यह बहुत ही बुरा कार्य किया। अभी तुम बच्चे हो, बुद्धि के कच्चे हो, कर्तव्याकर्तव्य का तुम्हें ज्ञान नहीं। अव्यग्र भाव से जो हम सबकी सदा सेवा करता रहता है, ऐसे निरपराध सेवक से कभी कोई अपराध बन भी जाय तो हमें क्षमा करना चाहिये।"

बच्चे को इस प्रकार डाँट-डपटकर मुनि अत्यन्त दुखी हुए। अब कोई दूसरा उपाय था नहीं। अतः आँखें बन्द करके वे

सर्वान्तर्यामी भगवान् वासुदेव से प्रार्थना करने लगे—"हे प्रभो! लड़कपन के कारण मेरे इस अबोध बालक ने जो उन राजा का अपराध किया है, हे घट-घट के व्यापी जगदाधार स्वामिन्! उसे आप क्षमा करें। इस बच्चे का कल्याण करें। राजा का भी कल्याण हो।"

सूतजी कहते हैं—"ऋषियो! इसी का नाम है साधुता। देखिये, राजा ने कलि के प्रभाव से अभिमानवश मुनि का कितना घोर अपमान किया, मुनि ने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। बार-बार स्मरण दिलाने पर भी वे उसे साधारण, नगण्य क्षुद्र और अल्प अपराध ही कहते रहे, किन्तु शृङ्गी के दिये शाप से वे अत्यन्त व्यथित हुए। पुत्र को डाँटा-डपटा, भगवान् से क्षमा माँगी, राजा का कल्याण चाहा। प्रायः देखा जाता है, एक आत्म-ज्ञानी भगवद्भक्त महात्मागण दूसरों के द्वारा दिये हुए दुःख-सुखों को पाकर न तो बहुत व्यथित होते हैं और न बहुत प्रसन्न ही। क्योंकि वे जानते हैं, ये दुःख-सुख आदि द्वन्द्व तो मन के धर्म हैं, आत्मा तो निर्द्वन्द्व, निर्लेप, सुख-दुःख से परे सदा परम सुख स्वरूप है, उस निर्गुण को कौन दुःख-सुख दे सकता है?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब महामुनि को इतना पश्चात्ताप हुआ तो शाप तो पुत्र ने ही दिया था, वे तो अपने पुत्र से अधिक शक्तिशाली, तेजस्वी, तपस्वी और सर्व समर्थ थे। उन्होंने उस शाप को अन्यथा क्यों नहीं कर दिया? राजा को चिरायु होने का वरदान क्यों नहीं दे दिया?"

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग! यह सत्य है कि शमीक मुनि परम तेजस्वी और सर्वसमर्थ थे। उन त्रिकालदर्शी मुनि ने फिर ध्यान लगाकर देखा तो उन्हें पता चला, राजा की मृत्यु इसी प्रकार तक्षक के द्वारा होनी ही है, ऐसी भावी ही है, वे विधि के विधान को अन्यथा करना नहीं चाहते थे। भावी को वे अव्यर्थ

मानने वाले थे। अतः उन्होंने शाप को तो अन्यथा नहीं किया। उसी समय अपने एक सर्वसमर्थ शिष्य को बुलाकर कहा—"बेटा! तुम अभी योगमार्ग से हस्तिनापुर जाओ और उन धर्मात्मा राजा को इस बात की सूचना दे दो कि मेरे पुत्र ने लड़कपन के कारण आपको ऐसा अनुचित शाप दे दिया है, आज के दिन को छोड़कर सातवें दिन आपको तक्षक डसेगा। इन सात दिनों में आप जो भी अच्छे-से-अच्छा, श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कार्य कर सकें करें। हमारा हृदय से आपको आशीर्वाद है। आप भगवान् के परम भक्त हैं, अतः सर्प के काटने से मृत्यु होने पर भी आपकी दुर्गति न होगी। आप भगवान् के अनन्त वैकुण्ठ धाम को पधारेंगे।"

इस प्रकार शिष्य को संदेश देकर शमीक मुनि ने उसे तुरन्त भेजा। शिष्य भी अत्यन्त शीघ्र आकाश मार्ग से हस्तिनापुर की ओर चल दिया।

छप्पय

डार्‌यो पितु उर स्याँपु शाप हौं देहौं वाकूँ।
डसे साँतवें दिवस महा अहि तक्षक ताकूँ॥
यों देकें सुत शाप पूज्य पितु के ढिँग आयो।
मर्‌यो स्याँपु उर निरखि, बहुत रोयो चिल्लायो॥
जगे महामुनि सुनी सब, बात बहुत दुख मन कर्‌यो।
धिक्कार्‌यो सुत विविध विधि, नृप सन वृत्त पठै दियो॥

—:०:—

महाराज परीक्षित् का पश्चात्ताप

[८०]

स चिन्तयन्नित्थमथाशृणोद् यथा
मुनेः सुतोक्तो निऋ तिस्तक्षकाख्यः।
स साधु मेने नचिरेण तक्षका-
नलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम् ।*

(श्री० भा० १ स्क० १९ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

इत नृप पुरमह पहुँचि कनक जब मुकुट उतार्यो।
आश्रम कर्यो कुकृत्य चित्तमहँ फेरि विचार्यो॥
अरे, बुद्धि मम भ्रष्ट भई, अनुचित यह कीन्हों।
योगनिष्ठ ते महा तपस्वी मुनि अब चीन्हों॥
सोचें—अब मुनि कोप तें, मम सरवसु नसि जायगो।
ताही छिन सन्देश लै, शिष्य नृपति ढिँग आइगो॥

संसार में ऐसा कौन जीवधारी है, जिससे कभी भूल में भी कोई अपराध न हुआ हो। भले, बुरे, सज्जन, दुर्जन, मूर्ख,

---

* नगर में लौटने पर महाराज को अपने इस कार्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे उसी बात की चिन्ता कर ही रहे थे कि इतने में ही उन्होंने तक्षक द्वारा डसने वाली मुनि के शाप की बात सुनी। यह बात उन्होंने अपने लिये अत्यन्त ही हितकर समझी। वे सोचने लगे—"मेरा चित्त संसार में बड़ा आसक्त हो रहा था। यह तक्षक की विषाग्नि उसके लिये वैराग्य का कारण बन गई।"

पण्डित सभी से कुछ-न-कुछ प्रकृतिवश अपराध बन जाता है। दुष्ट पुरुषों के द्वारा हुए अपराध में और सज्जन पुरुषों के द्वारा हुए अपराध में इतना ही अन्तर है कि दुष्ट-पुरुष किसी का अपराध करके अत्यन्त ही प्रसन्न होते हैं और गर्व पूर्वक कहते हैं—"मैंने उस ढोंगी को खूब छकाया। इतना उसे मजा चखाया कि बच्चू जीवन भर याद करेगा। इसके विपरीत सज्जन पुरुषों के द्वारा हाल तो किसी का अनिष्ट या अपकार होता नहीं। यदि कभी भूल से प्रकृतिवश किसी कारण से कोई छोटा-सा अपराध बन भी जाता है तो प्रकृतिस्थ होते ही उनका हृदय उन्हें उसके लिये बार-बार धिक्कार देता है। वे पश्चात्ताप की अग्नि में जलते रहते हैं, बार-बार सोचते हैं—"हाय! उस समय मेरी इस प्रकार बुद्धि भ्रष्ट क्यों हो गई? क्यों मैंने यह महान् अनर्थ कर डाला? क्यों मैं इन्द्रियों के अधीन हो गया? इस प्रकार पश्चात्ताप की अग्नि से वे अपने मल को जला डालते हैं। उस पाप का यथा-शक्ति प्रायश्चित्त करते हैं। उसके प्रतिकार के लिये जो भी सम्भव होता है—जप, तप, अनुष्ठान आदि करते हैं। पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त से बहुत से पाप नष्ट हो जाते हैं, बहुत से कम हो जाते हैं।"

महाराज परीक्षित् अत्यन्त शीघ्रता के साथ अपने नगर में चले गये। पुर में पहुँचकर उन्होंने अपना सुवर्ण का रत्नों से मण्डित मुकुट उतार कर रखा। मुकुट उतारते ही उन्हें चेत हुआ। आश्रम में किये हुए कृत्य की स्मृति आते ही उनका हृदय फटने लगा। वे पश्चात्ताप रूपी अग्नि में जलने लगे उन्हें संसार शून्य दिखायी देने लगा। उनके मन में निश्चय हो गया कि अब मेरी कुशल नहीं। मुनि के शाप से मेरा सर्वस्व ,नष्ट हो जायगा। वे एकान्त में बैठे चुपचाप आँसू बहा रहे थे। रह-रहकर उन्हें

अपने उस निन्द्य कुकृत्य पर आन्तरिक पश्चात्ताप हो रहा था। वे उसी बात को अनेकों तर्क-वितर्कों द्वारा सोचते—"हाय ! मेरी कैसी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी, उस समय मैंने उन निरपराध, गूढ़, तेजोमय मुनीश्वर के साथ यह कैसा अनार्य पुरुषों का-सा नीच व्यवहार किया ? उन्होंने मेरा क्या बिगाड़ा था ? नगर से दूर रहकर घोर जङ्गलों में कसैले, तीखे, कड़वे कन्द-मूल फल खाकर वे अपना काल यापन कर रहे थे। वे कभी मुझसे कुछ माँगते नहीं थे, मेरी उन्हें कुछ अपेक्षा नहीं थी। भगवान् का ध्यान कर रहे थे। अपने तप रूपी धन को बढ़ा रहे थे। मैंने अकारण उनके गले में सर्प डाल दिया। वह मैंने उनके गले में मरा सर्प नहीं डाला, अपितु विषधर भुजङ्ग के फन पर अपना पैर रख दिया। कुपित हुआ, सर्प तो एक ही प्राण लेकर निवृत्त हो जाता है, उसकी विषाग्नि से तो अपकार करने वाला ही जलता है, किन्तु मुनि की कोपाग्नि से तो मुझ पापी का राज्य, समस्त सेना, यह इतना बड़ा कोष, बन्धु-बान्धव, मेरा सर्वस्व जलकर भस्म हो जायगा। एक मेरे अपराध से करोड़ों निरपराध प्राणियों के प्राण नष्ट होंगे। हाय ! मैंने क्या कर डला ? मेरा कार्य ही इतना निन्द-नीय है कि मुझे भी कठिन-से-कठिन व बड़ा-से-बड़ा दण्ड दिया जाय, वही मेरे लिये कम है, वही अत्यन्त अल्प है। अच्छा मुनि के दारुण शाप से मेरे पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा। फिर मुझे या अन्य किसी को ऐसा अपराध करने का साहस तो न होगा, मेरे दण्ड से सभी को शिक्षा तो मिल जायगी कि तपस्वियों का अपराध करने वालों की ऐसी दुर्दशा होती है। फिर मैं मेरे वंशज तथा अन्य पृथ्वी के नृपतिगण, ब्राह्मण, देवता और गौओं के प्रति ऐसा अनादर या अपमान तो न करेंगे।"

आते ही महाराज को यह चिन्ता व्याप गई। उन्होंने आकर न आचमन किया, न हाथ पैर धोए, दासियाँ सोने की झारियों

में जल लिये बड़ी देर से प्रतीक्षा कर रही थीं, किन्तु राजा का उधर ध्यान ही नहीं था। वे तो कुपित हुए मुनि के भाव जगत् में दर्शन कर रहे थे और उनसे भयभीत होकर थर-थर काँप रहे थे। इतने में ही प्रहरी ने आकर महाराज का जय-जयकार किया और हाथ जोड़कर विनीत भाव से बोला—"प्रभो! भगवान् शमीक मुनि के आश्रम से आये हुए उनके एक परम तेजस्वी शिष्य द्वार पर खड़े हैं। वे महाराज से शीघ्र ही भेंट करने को कह रहे हैं। अब जैसी आज्ञा हो, उनको यहीं लाऊँ या अग्नि-होत्र-शाला में बिठाऊँ?"

'शमीक मुनि के आश्रम से उनके शिष्य आये हैं'—यह सुनते ही महाराज चौंक पड़े। अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ प्रहरी से बालकों की भाँति पूछने लगे—"अरे भैया, मुनि शिष्य क्या कह रहे हैं, वे बड़े कुपित होंगे? उनकी चेष्टा कैसी दिखाई देती है? वे क्या कहना चाहते हैं?"

प्रहरी ने अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"प्रभो! मुनि बड़े शान्त हैं? वे महाराज का जय-जयकार कर रहे हैं। वे कुछ कहने को बहुत व्यग्र प्रतीत होते हैं। उन्होंने आशीर्वाद पूर्वक मुझे आपके समीप शीघ्र आने को प्रेरित किया है। मैंने निवेदन भी किया—"ब्रह्मन्! मेरे स्वामी अभी इस समय थके हुए वन से लौटे हैं, आप एक मूहूर्त विराज जायँ, तब मैं सूचित करूँगा।" इस पर उन्होंने अत्यन्त गम्भीर होकर शान्त भाव से कहा—"भैया! मुझे बहुत ही आवश्यक कार्य है। मुझे अभी अपने आश्रम पर लौटकर आचार्यदेव को सूचना देनी है। तुम बड़ी सावधानी से नम्रता पूर्वक महाराज से मेरा सन्देश कहो, इसे सुनकर भी वे मुझे बैठने को कहेंगे तो मैं बैठकर प्रतीक्षा करूँगा"

"मुनि शिष्य कुपित नहीं हैं, शान्त हैं, मुझे आशीर्वाद पूर्वक बुला रहे हैं।" इतना सुनते ही महाराज जैसे बैठे थे वैसे ही नंगे

सिर द्वार की ओर दौड़े। दास-दासी, नौकर-चाकर, प्रहरी आदि सभी महाराज की इस अभूतपूर्व व्यग्रता को देखकर आश्चर्य-चकित हो गये। द्वार पर आकर महाराज ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से अत्यन्त ही अधीरता के साथ पृथ्वी पर लेटकर मुनि के शिष्य को साष्टाङ्ग प्रणाम किया।"

काले मृग चर्म को ओढ़े, जटा बिखेरे हाथ में कुशों का मूँठा और दण्ड कमण्डलु लिये मुनि शिष्य साक्षात् शरीर धारी तप ही दिखाई देते थे। राजा को इस प्रकार भूमि में पड़ा देखकर मुनि शिष्य ने उन्हें कठिनता के साथ उठाया, उनका आलिङ्गन किया और बड़ी गम्भीरता के साथ कहने लगे—"राजन्! मेरे गुरु भगवत् शमीक ने आपकी कुशल पूछी और आपको आशीर्वाद भेजा है।"

अहा! मुनि ने मेरी कुशल पूछी है, साथ ही मुझे आशीर्वाद भी भेजा है। यह सुनते ही महाराज अत्यन्त ही अधीर हो उठे और कहने लगे—"ब्रह्मन्! मैंने उन महामुनि का बड़ा अपकार किया है। मैंने उन तपोधन का इतना घोर अपमान किया है कि इसके बदले में वे मुझे जो भी दण्ड दें वही थोड़ा है। ऐसी दुष्टता मुझ दुष्ट के ही अनुकूल है। इस पर भी कुपित न होकर उन्होंने मेरी कुशल पूछी है, मुझे आशीर्वाद भेजा है, यह उन तपोनिधि क्षमासागर महामुनि के ही अनुरूप है, महाभाग! मेरी समस्त कुशल तो उसी समय नष्ट हो गई, जब मैंने उन समाधिनिष्ठ मुनि के ध्यान में विघ्न डाला, उनके गले में अकारण मृतक सर्प पहिना दिया। अब मेरी कुशल कहाँ है? सर्वत्र अकुशल-ही-अकुशल है। बस इसमें एक ही कुशल की क्षीण-सी रेखा है कि महामुनि ने मुझे आशीर्वाद भेजा है। मेरे महान् अपराध पर भी उन्होंने मेरा सर्वस्व नष्ट नहीं कर दिया।"

इस पर शिष्य ने कहा—"एक बड़ी चिन्ता की बात है, इससे महामुनि बड़े दुखित हैं। उसी के कहने के लिये मुझे विशेष रूप से भेजा है। वह यह है कि मेरे गुरुदेव के एक परम तेजस्वी पुत्र शृङ्गी हैं। ऋषिकुमारों से जब उन्होंने यह बात सुनी तब उन्होंने वहीं ऋषि के परोक्ष में आपको अत्यन्त दारुण शाप दे दिया।"

राजा ने अत्यन्त ही उत्सुकता से पूछा—"हाँ, ब्रह्मन् ! मुनि पुत्र ने मुझे कौन-सा शाप दिया ? इसे मैं सुनना चाहता हूँ।"

मुनि शिष्य बोले—"प्रभो ! मेरे गुरु-बन्धु ने कौशिकी का जल स्पर्श करके आपको यह भीषण शाप दिया है कि आज के सातवें दिन तक्षक सर्प आपको डस लेगा। इसे सुनकर मुनि अपने पुत्र पर बहुत असन्तुष्ट हुए और उन्हें बहुत अधिक बुरा भला कहा।"

महाराज अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए शीघ्रता के साथ कहने लगे—"बस, यही शाप ? मुझे अकेले को ही तक्षक काटेगा ? सो भी आज नहीं, आज के सातवें दिन ? ब्रह्मन् ! यह शाप क्या है, यह तो ऋषिपुत्र का वरदान है। मैं इस राज-काज में इतना आसक्त हो गया था कि श्रीकृष्ण चिन्तन जो जीवन का मुख्य ध्येय है, उसे भूल ही गया था। ऋषिपुत्र ने सात दिन की अवधि देकर मुझे उसके लिये सन्नद्ध कर दिया। अब मैं सब व्यापार को त्यागकर श्रीकृष्ण चरणों का ही आश्रय लूँगा।"

शमीक मुनि के शिष्य ने कहा—"राजन् ! मेरे गुरुदेव ने कहा है, आप धर्मात्मा हैं, मेरे पुत्र का भी कोई दोष नहीं, मैंने

समाधि द्वारा देखकर यही निर्णय किया है कि भावी ऐसी ही थी। अदृष्ट को–दैव अथवा प्रारब्ध को–अन्यथा करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। फिर भी सर्प के काटने पर भी आपकी दुर्गति न होगी। आप भगवान् के परमधाम को पधारेंगे। महाराज ! आपका कल्याण हो। गुरुदेव ने मुझे शीघ्र ही लौटने को कहा है। मैं अब जा रहा हूँ।"

महाराज ने अत्यन्त विनीत भाव से मुनि शिष्य के पैर पकड़े उनका पूजन किया। महामुनि शमीक और उनके तेजस्वी पुत्र शृङ्गी से उन्होंने अपने कुशल समाचार और प्रणाम निवेदन करने की प्रार्थना की। इस प्रकार राजा से सत्कृत होकर शमीक मुनि के शिष्य अपने आश्रम को लौट गये और जाकर अपने गुरुदेव को सभी समाचार सुना दिये।

इधर महाराज परीक्षित् फिर लौटकर महलों में नहीं गये। द्वार पर ही उन्होंने अपने बड़े पुत्र कुमार जनमेजय को बुलाया। उसे अपना मुकुट पहिनाया और समस्त बूढ़े-बूढ़े ब्राह्मणों के हाथों में उन्हें सौंपकर, वे पैदल ही नंगे पैरों गङ्गाजी की ओर चल पड़े। मन्त्री, पुरोहित, अमात्यों ने बहुत आग्रह किया, नाना प्रकार के हाथी, घोड़े, रथ, पालकी आदि वाहनों के रहते हुए भी महाराज उनमें नहीं बैठे। इस प्रकार राजा को सर्वस्व त्यागकर भगवती भागीरथी की ओर जाते देखकर नगर के समस्त नर-नारी, राज्य के सभी लोग, सभी वर्ण और आश्रमों के पुरुष रोते-रोते महाराज के पीछे-पीछे चले। वे किसी की ओर न देखते थे और न किसी की बात ही सुनते थे, उन्होंने सभी की ओर से मुख मोड़ लिया था। नन्दनन्दन भगवान् श्यामसुन्दर से ही अपने मन का सम्बन्ध जोड़ लिया था, सभी सम्बन्धों से मन को हटाकर उनसे अपना सम्बन्ध तोड़ लिया था। इस प्रकार

बिना कुछ खाये पिये, महाराज हस्तिनापुर के निकट ही गङ्गा किनारे एक वट वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये।

छप्पय

सुन्यो शिष्य आगमन नृपति तहँ तुरतहिँ आये।
भूप निरखि भयभीत शिष्य ने वचन सुनाये॥
राजन्! ऋषि-सुत शाप दयो सो सब सुन लीजे।
सात दिवस महँ होहि मुक्ति सो कारज कीजे॥
सुनी शाप की बात नृप, सौंपि सुतहिँ सब राज धन।
कृष्ण चरन महँ चित्त दै, चले गङ्गतट मुदित मन॥



गङ्गा तट पर महाराज परीक्षित्

[८१]

अथो विहायेममुं च लोकम्
विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात् ।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान
उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम् ॥*

श्री० भा० १ स्क० १९ अ० ५ श्लोक

छप्पय

कमल बसै जल माहिँ किन्तु निरलेप रहे नित ।
त्यों ही नृप सब करत रहे कारज रखि हरि चित ॥
शापित सुरसरितीर चले सुनि सबई धाये ।
ऋषि मुनि त्यागी सन्त विरागी तपसी आये ॥
मुनिनिमाँहिँ सुरपति बसैं, श्रीपृथु सोहें सत्रमहँ ।
त्यों सन्तनितें घिरे नृप, अतिशय शोभित होयँ तहँ ॥

जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि की लपटें जलते-जलते कम हो जाती हैं तो उसके ऊपर राख छा जाती है । उस समय भीतर

---

* महाराज परीक्षित् तो पहिले से ही राज्य पाट और संसारी सुखों को हेय मानते थे, अब शाप सुनकर इहलोक तथा परलोक के सुखों की आस्था को त्यागकर तथा अन्न-जल त्यागकर प्रायोपवेश व्रत लेकर भगवती भागीरथी के तट पर जा बैठे । क्योंकि वे श्रीकृष्ण चरणारविन्दों की सेवा को ही सर्वश्रेष्ठ मनाने वाले थे ।

तो वह दहकती रहती है, किन्तु ऊपर से देखने में वह बुझी-सी प्रतीत होती है। जहाँ उसमें फूँक मारी कि ऊपर से राख उड़ जाती है, तनिक कुरेदने से वह फिर दहकने लगती है। उसी प्रकार महाराज परीक्षित् तो आरम्भ से ही वैराग्यवान् थे। उन्हें ये संसारी भोग सुखकर प्रतीत नहीं होते थे, किन्तु कर्तव्य बुद्धि से राजकाज करते रहने से वे संसारासक्त नरपतियों की भाँति अनुरक्त से दिखाई देते थे। जहाँ उन्होंने सुना कि आज से सातवें दिन मेरी मृत्यु होगी तो इसे सुनते ही उनका वैराग्य उसी प्रकार प्रज्ज्वलित हो उठा, जिस प्रकार पुराना जङ्ग लगा हुआ धातु का बर्तन खटाई लगाकर मल देने से चमकने लगता है। अब उन्हें सम्पूर्ण संसार असार दिखाई देने लगा। बिना छेड़खानी के, बिना ठेस लगे माधुर्य आता नहीं। वीणा के जब तक कान नहीं ऐंठते, जब तक उसके तारों को कसते नहीं तब तक विशुद्ध राग उत्पन्न नहीं होता। जमे हुए घृत को जब तक गरमी नहीं पहुँचाई जाती, तब तक वह पिघलता नहीं। चन्दन को जब तक रगड़ा नहीं जाता, तब तक वह सम्पूर्ण रूप में सुगन्ध नहीं पहुँचाता। सुवर्ण को जब तक अग्नि में नहीं तपाया जाता, तब तक वह चमकता नहीं। हीरे को जब तक शान पर नहीं चढ़ाया जाता, तब तक उसकी कान्ति उज्ज्वल नहीं होती, मृदंग को जब तक मार-मारकर चढ़ाया और मिलाया नहीं जाता, तब तक विशुद्ध ताल नहीं देता। इसी प्रकार जब तक कोई बड़ी ठेस नहीं लगती, तब तक इन अनित्य और क्षणभंगुर विषयों से सर्वदा के लिये यथार्थ दृढ़ वैराग्य नहीं होता।

'अब तो मृत्यु सिर पर आ ही गई'—इतना सोचते ही महाराज परीक्षित् उसी समय सर्वस्व त्यागकर भगवती सुरसरि की शरण में जाकर, उनके तट पर जा बैठे। अहा! ये जग-ज्जननी सबकी शरण्य हैं, सबको आश्रय देने वाली हैं। त्रिवि-

क्रम रूप में जब भगवान् ने भक्तराज बलि को छला था, तब एक पैर में ही सातों लोकों को नापने वाला उनका चरणारविन्द ब्रह्मलोक में पहुँचा तो ब्रह्माजी ने उस विश्ववन्दित पादपद्म की प्रेम से पूजा की। पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय आदि समर्पण करके उसमें सुन्दर-सुन्दर, हरी-हरी मञ्जरी वाली महारानी तुलसीजी के दल चढ़ाये। जिन वृन्दा देवी के दर्शन सभी पापों को नाश करने वाले हैं, जिनकी दिव्य गन्ध समस्त अशुभों को भगाने में समर्थ हैं, जो उन भगवान् वासुदेव को अत्यन्त ही प्रिय हैं, उनकी अभिन्न हृदया हैं, अपने सौभाग्य मद से जो उनके सिर पर चढ़ने वाली हैं, उन तुलसी-दलों से भगवान् लोक पितामह ने उन अरुण चरणों को ढक दिया और उसी समय अपने कमण्डलु के दिव्य जल से उन्हें धो दिया। वह दिव्य धोवन् ही पतितपावनी त्रैलोक्यवन्दिनी भगवती सुरसरि के रूप में प्रकट होकर तीनों लोकों में व्याप्त हो गया। उस कृष्णचरणच्युत वारि की विशेषता का वर्णन कौन कर सकता है ? एक तो वह जल ब्रह्माण्ड कटाह को भेद कर निकाला था, दूसरे उसे ब्रह्मदेव ने अपने दिव्य कमण्डलु में धारण किया, तीसरे उससे त्रैलोक्य पूजित प्रभु के पादपद्म पखारे गये, चौथे हरिप्रिया तुलसी की पवित्र रेणु उसमें मिल गई, पाँचवें प्रभु-पादपद्म की पावन पराग से उस पय का संसर्ग हो गया। इसीलिये समस्त लोकपालों ने अपने को पावन बनाने के निमित्त उस जल में अवगाहन किया। समुद्र मन्थन के समय विष पीने से शिवजी को गरमी बहुत सताने लगी। उस गरमी को शान्त करने के निमित्त शिवजी को इससे उत्तम उपाय कोई दिखाई न दिया। त्रिपथगा गङ्गा की उस प्रबल वेग वाली धारा को उन्होंने अपने जटाजूटों में धारण किया। इससे वे गङ्गाधर के नाम से प्रसिद्ध हुए। जो गङ्गाजी अपनी तीनों

धाराओं से तीनों लोकों को पवित्र करती हैं, उन जगज्जननी जाह्नवी का पवित्र बनने की इच्छा वाला कौन-सा मुमुर्षु पुरुष सेवन न करेगा? मुनियो! आप लोग श्रीगङ्गाजी के जल को साधारण जल न समझें और न गङ्गाजी को भगवान् के श्री विग्रह से पृथक् ही समझें। श्रीकृष्ण और सुरसरि ये दोनों अभिन्न विग्रह हैं। ये जल रूप से तो नास्तिकों और अश्रद्धालुओं को दिखाई देती हैं। वास्तव में ये तो ब्रह्मद्रवा हैं। जैसे अत्यन्त ताप से सुवर्ण गलकर द्रव हो जाता है, पिघल जाता है, जैसे उष्णता से नवनीत का लौंदा जल की भाँति बहने लगता है, उसी प्रकार परात्पर ब्रह्म ही किसी कारण से जल हो गया है।"

सूतजी की ऐसी बात सुनकर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग सूतजी! यह आपने अद्भुत बात सुनाई। अब तक तो हम श्रीगङ्गाजी को विष्णुपादाब्ज सम्भूता ही समझते थे। अब आप कह रहे हैं–यह तो पिघला हुआ ब्रह्म-विग्रह ही है। सो यह कैसे हुआ, ब्रह्म जल रूप में क्यों प्रवाहित हुआ? हमारी इस शङ्का का समाधान करके तब आगे बढ़ें।"

सूतजी, शौनकजी के इस प्रश्न को सुनकर गद्गद हो उठे, उनकी आँखों में अश्रुओं का प्रवाह बहने लगा। मानों उनके हृदय से गङ्गा यमुना की धाराओं के दो स्रोत फूट पड़े हों। उनके सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हो आये। आँसू पोंछकर और आचमन करके सूतजी कहने लगे—"महाभाग! आपने अत्यंत ही सुन्दर प्रश्न किया। यह कथा बड़ी ही रसमय है। इस कथा के श्रवण करने से आप समझ सकेंगे कि भगवत् गुणों में कितना सौंदर्य्य है। जो कथा मैं कहने जा रहा हूँ, उससे भगवान् के त्रैलोक्य विमोहन कथारस का महत्व प्रकट होगा। अच्छा तो आप अब सुनें।"

"एक दिन की बात है कि वैकुण्ठधाम में भगवान् विराज-

मान् थे, बड़े-बड़े विष्णु भक्त पार्षद उनकी परिचर्या कर रहे थे। बहुत से ऋषि, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व और देवगण भगवान् की सभा में उपस्थित थे। शंकरजी, ब्रह्माजी तथा अन्य प्रधान देवता और लोकपाल भी वहाँ उपस्थित थे। इतने में ही वीणा बजाते हरिगुण गाते, प्राणिमात्र को अपनी वीणा की झंकार से रिझाते हुए देवर्षि नारद वहाँ आ पहुँचे। नारदजी को देखकर समस्त सभा के सभासद खिल उठे। सभी ने उनका अभिनन्दन किया। वे भी ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवों को प्रणाम करके, सबका यथोचित सम्मान सत्कार करके भगवान् के बताये हुए आसन पर विराजमान हुए। इतनी बड़ी सभा को देखकर नारदजी बड़े प्रसन्न हुए। जो गन्धर्व गा रहे थे, उन्होंने नारदजी को देखकर गाना बन्द कर दिया और नारदजी से कुछ गाने के लिये आग्रह करने लगे। नारदजी को कुछ संकुचित-सा देखकर भगवान् ने हँसते हुए कहा—"हाँ हाँ, नारदजी! गाओ कुछ, तुम ही तो एक तन्मयता के साथ सभा में गुणगान करने वाले हो। भगवान् के मुख से ऐसा प्रशंसा-वाक्य सुनकर नारदजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। हर्ष से उनका हृदय खिल उठा। हृत्-तन्त्री के तार अपने आप झंकृत हो उठे। अपनी स्वरब्रह्म विभूषिता बीणा को बजाकर अत्यन्त आह्लाद के साथ तन्मय होकर वे गाने लगे उस दिन ऐसा समा बँधा–राग का ठाठ ऐसा जमा कि सभी सभा चित्र लिखित के समान स्तब्ध रह गई। भगवान् भी स्तम्भित हो गये। उनके अङ्ग की सभी चेष्टायें शिथिल हो गईं। भगवान् अपने गुणों के श्रवण में इतने तल्लीन हो गये कि उनका श्रीविग्रह हर्ष से पिघलने लगा। पास में बैठे हुए ब्रह्माजी को कुछ-कुछ चेत था। अतः उन्होंने अपने कमण्डलु में उस ब्रह्मद्रव को धारण कर लिया। इस प्रकार श्रीहरि गुण-यश-कीर्तन सुनने से द्रवीभूत हो

गये। जब कालान्तर में भगवान् का पादपद्म ब्रह्मलोक में पहुँचा तो प्रेम की व्यग्रता में ब्रह्माजी सब कुछ भूल गये। उसी कमंडलु के जल से शीघ्रता में भगवान् के चरणों का प्रक्षालन किया। उसी से भगवती सुरसरि की तीन धारायें निकलीं जो पाताल में भोगवती के नाम से प्रसिद्ध हुईं, स्वर्ग में देवसरिता और पृथ्वी में अलकनन्दा के नाम से विख्यात हैं। पुनः उनकी एक धारा को महाराज भागीरथ लाये, इससे ये भागीरथी कहलाईं। जन्हु मुनि ने इन्हें पुत्री रूप में स्वीकार किया, इसी से इन्हें जान्हवी भी कहते हैं। इसीलिये ये गङ्गाजी जगत्वन्द्य और परम पावनी मानी जाती हैं। सभी ऋषि और परमार्थ पथ के पथिक इन्हीं का आश्रय ग्रहण करते हैं। सभी इन्हीं की शरण में जाते हैं। अन्त में इन्हें ही पाकर मुक्त होते हैं। महाराज परीक्षित् ने भी इन्हीं के तट पर बैठकर अपने जीवन के अन्तिम सात दिन बिना कुछ खाये पीये बिताने का निश्चय किया।

महाराज परीक्षित चक्रवर्ती राजा थे, तब तक ऋषि-मुनियों ने इस धराधाम को कलिदोष के कारण त्यागा नहीं था। वे सशरीर इस पर विद्यमान थे। बात-की-बात में यह समाचार सर्वत्र फैल गया कि महाराज ने राज्य-पाट त्याग दिया है, विप्र-शाप से सात दिन में उनका देहान्त हो जायगा। विषधर तक्षक नाग उन्हें आकर डसेगा। ये बातें राज्य भर में फैल गईं। त्रिकालज्ञ मुनियों ने जब देखा कि धर्मात्मा राजा परीक्षित् जब इस पृथ्वी का परित्याग करके चले जायँगे, तब तो कलियुग का सर्वत्र साम्राज्य हो जायगा। फिर तो यह मनमाने अन्याय, अत्याचार करेगा। ऐसे समय में किस साधन से साधु पुरुष अपना समय बितावेंगे। सभी के पापी हो जाने से पृथ्वी एक दिन भी टिक नहीं सकती। कलि के कुकृत्यों के कारण धर्मात्मा पुरुष बिना किसी आश्रय के अवनि पर रह नहीं सकते। अतः

इन सात दिनों में ही सभी ऋषि, महर्षि मिलकर कोई सरल, सुगम, सर्वोपरि, सुन्दर साधन स्थिर करके उसे सर्वसाधारण के लिये प्रकट करें। यही सब सोचकर और समाधि द्वारा सभी समाचार जानकर, चारों दिशाओं से झुण्ड-के-झुण्ड ऋषि, महर्षि हस्तिनापुर के समीप, आनन्द तट नामक स्थान में जहाँ महाराज परीक्षित् प्रयोपवेश व्रत लेकर बैठे थे, आने लगे। साधु सन्त तो सदा संसारी सन्ताप से सन्तप्त प्राणियों को सुखी बनाने के लिये पृथ्वी पर भ्रमण करते ही रहते हैं। यद्यपि वे यह नहीं कहते कि हम जगत् के उद्धार के निमित्त विश्व का कल्याण करने घूमते हैं। पूछने पर वे यही कहते हैं कि हम तो तीर्थ यात्रा के निमित्त जा रहे हैं। शौनकजी! आप ही सोचिये, जिन्होंने समस्त तीर्थों के स्वामी श्रीहरि को अपने हृदय में बैठा लिया है, उन्हें भला तीर्थ क्या पवित्र कर सकेंगे। उन्हे तीर्थ-यात्रा आदि पुण्य कर्मों की क्या अपेक्षा हो सकती है, किन्तु इसी मिस से वे तीर्थों को पावन करते फिरते हैं। तीर्थों के पापों को स्नान करके नष्ट किया करते हैं। इस प्रकार मुनिगण कोई गङ्गा स्नान के मिस से, कोई हरिद्वार, बदरीवन जाने के बहाने से गङ्गा तट पर आने लगे। बहुत से तो अकेले ही थे, बहुत अपने शिष्य-प्रशिष्य, पुत्र पौत्रों को भी साथ लेकर आये थे, बहुत से नंगे थे, बहुत से वल्कलधारी थे। बहुतों के सिर मुड़े थे, बहुतों ने जटा धारण कर रखी थी। कोई मौनी थे, कोई दिगम्बर थे। कोई एकाहारी, फलाहारी, दूधाहारी, पयाहारी और निराहारी थे। कोई वायु पीकर ही रहने वाले थे। कोई ज्ञाननिष्ठ थे तो कोई भक्तनिष्ठ भागवत थे। कोई कर्मकाण्डी थे, जो अपने अग्निहोत्र की अग्नियों को साथ लिये हुए थे। इस प्रकार नाना देशों से नाना आचार-विचार, वेष-भूषा और रहन-सहन वाले ऋषि-मुनि साधु-सन्त उस स्थान पर आ-आकर एकत्र होने लगे। उनमें से

कुछ प्रधान-प्रधान ऋषि-मुनियों के नाम ये हैं—अत्रि, वसिष्ठ, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, अङ्गिरा, पराशर, विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, इध्मवाह, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भरद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, अगस्त्य, भगवान् व्यासदेव, नारद, अरुण तथा और भी अनेकों देवर्षि, राजर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षि और त्यागी, तपस्वी तथा उदासी महात्मा वहाँ पधारे थे।

महर्षियों को अपनी ओर चारों दिशाओं से आते देखकर महाराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा—ये सब जगत्वन्द्य महापुरुष अन्त समय में मुझे दर्शन देने स्वतः ही पधारे हैं। यह मेरे लिये कितने सौभाग्य की बात है।

यही सोचकर महाराज का हृदय गद्गद हो उठा। उनका सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो गया। हाथ जोड़े हुए महाराज ने उठकर उन सब ऋषि-मुनियों का सत्कार किया और अर्घ्य पाद्य आदि से उन सबकी यथायोग्य पूजा की।

छप्पय

माघ मकर के मध्य मनुज माधव ज्यों धावें।
त्यों सब दिशि तें सबहिँ सन्त गङ्गा तट आवें॥
उठें, अरघ दें नृपति योग्य आसन बैठावें।
चरन धूरि धरि शीश विनय तैं वचन सुनावें॥
पाप करम करि क्रूर अति, विप्र शाप शापित भयो।
किन्तु सन्त दरसननितैं, धन्य आज हौं ह्वै गयो॥

महाराज परीक्षित् का पारमार्थिक प्रश्न

[८२]

ततश्च वः पृच्छ्यमिमं विपृच्छे
विश्रभ्य विप्रा इतिकृत्यतायाम् ।
सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यम्
शुद्धं च तत्रामृशताभियुक्ताः ॥*
(श्री० भा० १ स्क० १९ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

बार-बार सिर नाइ नृपति बोले यों सबतैं ।
करथो अकारज काज चित्त चञ्चल मम तबतैं ॥
मूर्तिमान हैं वेद आपु ऋषि-मुनि तनुधारी ।
दरशन दैकैं सपदि बिपदि चिन्ता मम टारी ॥
मुनि प्रेरित अहि डसै भल, शुभ कर्तव्य बताइ दे ।
भ्रम भय भेद मिटाइ दैं, कृष्ण कथा सुनवाइ दे ।

---

* आये हुए समस्त ऋषियों का सत्कार करके महाराज परीक्षित् उनसे विनयपूर्वक पूछने लगे—"हे विप्र वृन्द ! मैं आप सब पर श्रद्धा विश्वास करके 'मनुष्य का क्या कर्तव्य है' इस पूछने योग्य बात को पूछना चाहता हूँ । ऐसा कौन-सा विशुद्ध कर्म है, जो सभी पुरुषों को सम्पूर्ण अवस्थाओं में विशेषकर उन लोगों को जिनकी मृत्यु सन्निकट है, समस्त इन्द्रियों और अन्तःकरण के द्वारा करना चाहिये । आप सब लोग आपस में परामर्श करके इसका उत्तर दें ।"

दुःख में इस बात की परीक्षा होती है कि किनका हमसे हार्दिक स्नेह है, कौन दिखावटी स्नेह दर्शाता है। सुख-सम्पत्ति में तो सहानुभूति दिखाने वाले, प्रेम प्रदर्शित करने वाले बहुत हो जाते हैं। सच्चे प्रेमी तो वे ही हैं जो दुःख में भी साथ न छोड़ें, सुख से अधिक दुःख के समय प्रेम प्रदर्शित करें। दुःख में मनुष्य दीन हो जाता है। चारों ओर सहायता और सहानुभूति के लिये निहारता है, उस समय जो उसको धैर्य बँधाता है, दो मीठी बात कहकर आश्वासन देता है, वह मानों उसे बिना दाम के मोल ले लेता है। दुखी मनुष्य ऐसे समय के सहायक के प्रति अत्यन्त ही कृतज्ञता प्रकट करता है।

महाराज परीक्षित् समझ रहे थे—"मुझसे अनुचित कार्य बन गया, अकारण मैंने ब्राह्मण का अपमान किया है। इसलिये सभी ब्राह्मण, सभी ऋषि-महर्षि मुझे नीच, अनार्य तथा ब्राह्मण-द्वेषी समझकर त्याग देंगे, वे मेरे काम की निन्दा करेंगे, मुझे बार-बार धिक्कार देंगे इसलिये वे एकान्त में गङ्गातट पर जा बैठे थे, किन्तु बात इसके विपरीत ही हुई। चारों दिशाओं से बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि, तपस्वी आ-आकर उनके साथ सहानुभूति प्रकट करने लगे, तब तो महाराज का हृदय भर आया। वे कृतज्ञता के भार से दब से गये। सबका यथोचित सत्कार करके हाथ जोड़े हुए गद्‌गद कण्ठ से महाराज परीक्षित् कहने लगे—"महर्षियो ! मुझे प्रजा के लोग राज-राजेश्वर, सम्राट् महाराजाधिराज और भी न जाने क्या-क्या कहते थे। उन शिष्टाचार सम्बन्धी सम्बोधनों से मुझे कुछ प्रसन्नता नहीं होती थी, क्योंकि आश्रित और स्वार्थी लोग तो सदा से ही बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा किया करते हैं, किन्तु आज मैं यथार्थ में अपने को सम्पूर्ण राजाओं में श्रेष्ठ समझने लगा। इस बात को स्मरण करके मेरे रो-रोम खिल उठते हैं कि निन्दनीय कर्म करने वाले मुझ अधम के ऊपर भी

आप सबने इतनी कृपा की। मरते समय सभी ने एक साथ ही मिलकर मुझे अपने देव-दुर्लभ दर्शन दिये। मैं धन्य हो गया, कृतकृत्य हो गया। आज मेरा समस्त शोक, मोह, दुःख, निर्वेद और सन्ताप दूर हो गया। मुनियो ! एक तो राजा लोग वैसे ही बड़े अभिमानी होते हैं। उन्हें राज्य का, धन का, शासन का, अधिकार का, अत्यधिक गर्व होता है। वे अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं। इतने पर भी यदि राजा होकर अविवेकी हुआ, सद्-असद् के विचार से शून्य हुआ, तब तो फिर कहना ही क्या ? 'गिलोय वैसे ही कड़वी थी, तिस पर नीम पर चढ़ गयी।' अविवेकी राजा की सदा अधर्म में प्रवृत्ति होती है। देखिये अविवेक के ही कारण मेरे द्वारा ऐसा पाप कर्म बन गया। जिससे मुनिपुत्र ने मुझे शाप दे दिया।"

एक वृद्ध से महर्षि बोले—"राजन् ! उड़ता हुआ समाचार तो हमने भी सुना है, किन्तु अब आप यथार्थ बात बताइये, क्या हुआ ? शमीक मुनि के पुत्र ने शाप क्यों दिया ?"

महाराज अत्यन्त लज्जित होकर आँसू बहाते हुए बोले—"महर्षियो ! आप सर्वज्ञ हैं। सब कुछ जानकर ही तो आप मेरे ऊपर कृपा करके यहाँ पधारे हैं। फिर भी आप मेरे कल्याण के लिये मेरे पाप को मुझसे ही प्रकट कराना चाहते हैं। यह आपकी साधुता है, क्योंकि पाप और पुण्य प्रकट करने से क्षीण होते हैं। मैं मृगया के निमित्त वन में गया था। वहाँ एक मृग का पीछा करते-करते भूख-प्यास से व्याकुल होकर महामुनि शमीक के आश्रम पर गया। मैंने कई बार मुनि को बुलाया। वे समाधि-मग्न थे। उस समय मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई। एक मरा सर्प मुनि के गले में परीक्षा के लिये डालकर बिना विचार किये राजधानी को लौट आया। पीछे उनके तेजस्वी तपस्वी पुत्र ने मुझे शाप दे दिया—"यही मरा सर्प तक्षक बनकर आज से

सातवें दिन डालने वाले को डस लेगा।" यह समाचार जब मैंने सुना, तभी सर्वस्व त्यागकर मैं यहाँ गङ्गातट पर चला आया। मुझ अधर्मी का आश्रय कोई नहीं है। हे विप्रगण! श्रीगङ्गा माता और आप ही अब मेरे रक्षक हैं, आप सबके ही चरणों की शरण मैंने ली है। आप मुझ पर कृपा करें, मेरा उद्धार करें।"

इस पर सहानुभूति प्रकट करते हुए उन मुनि ने कहा—"अरे, शाप देकर तो मुनिपुत्र ने बुरा काम किया। इतने छोटे अपराध पर इन धर्मात्मा राजा को इतना बड़ा दण्ड देना उचित नहीं था।"

यह सुनकर बड़ी शीघ्रता के साथ महाराज परीक्षित् बोले—"नहीं महाराजजी! ऋषिपुत्र ने मेरे साथ बड़ा उपकार किया। उन्होंने शाप न देकर मुझे वरदान ही दिया। न जाने कब तक मैं देह-गेह में आसक्त बना रहता? न जाने कब तक राज्य रूपी पापड़ों को बेलता रहता? भगवान् को भूलकर न जाने कब तक भोगों में भटकता रहता? मुझे तो ऐसा लगता है कि साक्षात् भगवान् ही शाप का रूप रखकर मुझे वैराग्य का उपदेश देने के लिये पधारे हों। मृत्यु से तो संसारी लोग डरते हैं कि अब हमारा अन्त हो जायगा। मैंने तो आपकी शरण गह ली है। अब मुझे किस बात का भय हो सकता है? आप सब मिलकर मेरी बात बना देंगे, मुझे अधोगति से बचा लेंगे, संसार सागर में डूबते हुए मुझे हाथ पकड़कर उबार लेंगे।"

महाराज के ऐसे दीनतापूर्ण गम्भीर वचन सुनकर वे बूढ़े महर्षि आपस में सभी से सम्मति करने लगे। सबसे पूछने लगे—"राजा को तक्षक नाग काट न सके, इसके लिये आप लोग कोई जन्त्र, मन्त्र, औषधि प्रयोग हो तो बतावें।"

इस पर महाराज ने कहा—"मुनियो! अब मैं जीना नहीं

चाहता। अधिक जीने से इस अधर्मपूर्ण कलिकाल में लाभ ही क्या ? मैंने अब अपने चित्त को वृत्ति सब ओर से हटाकर भगवान् वासुदेव के चरण-कमलों में लगा दो है। अब मुझे न शाप का भय है और न उस कपट वेषधारी तक्षक का ही भय। आप सब तो मुझे नन्दनन्दन श्यामसुन्दर की सुमधुर कथायें सुनाइये। मुझे सब मिलकर प्रभु प्रेमरूपी पीयूष पिलाइये और यह आशीर्वाद दीजिये कि दूसरे जन्म में भी उन अनादि, अनन्त, अच्युत के चरण-कमलों में दृढ़ अनुराग बना रहे। अब जिस योनि में भी मैं जन्म लूँ फिर ऐसा पाप न कर सकूँ, सर्वत्र अपने श्यामसुन्दर को ही समझकर सबके साथ सम्पूर्ण जगत् में मेरा मैत्री भाव हो, किसी को भी अपना शत्रु न समझूँ। क्रोध करके किसी का कभी भी अपकार न करूँ।"

महाराज की ऐसी दृढ़ता देखकर सभी ऋषि-मुनि चकित हो उठे। वे सर्वस्व त्याग चुके थे, पृथ्वी का शासन भार अपने बड़े पुत्र जनमेजय को सौंप चुके थे। वे उत्तराभिमुख बैठे थे। उनके कुशासन की कुशाओं के मुख दक्षिण की ओर न होकर पूर्व की ओर थे। पितृ कर्मों को छोड़कर शुभ कार्यों में कभी कुशाओं के मुख दक्षिण की ओर नहीं होते। इस प्रकार अपने प्रायोपवेश व्रत में दृढ़ बैठे हुए राजा को देखकर आकाश में विमानों पर बैठे देवतागण उनकी प्रशंसा करने लगे। उन्होंने धर्मात्मा त्यागी राजा के ऊपर दुन्दुभी आदि स्वर्गीय बाजे बजाकर पारिजात के पुष्पों की वृष्टि की। सभी ऋषि, मुनि, त्यागी, तपस्वी साधु-साधु कहकर महाराज की प्रशंसा करने लगे। सभी ने एक स्वर से कहा—"राजन्! आप धन्य हैं ऐसे वचन आपके अनुकूल ही हैं।"

इस प्रकार सबके द्वारा अनुमोदित और सत्कृत हो जाने के अनन्तर वे वृद्ध मुनि ही सबकी ओर से कहने लगे—"हे

राजर्षि श्रेष्ठ ! धर्मात्मन् राजन् ! ये वचन आपके ही अनुरूप हैं, क्योंकि आपका जन्म पाण्डवों के वंश में हुआ है। जिन पाण्डवों की चित्त की वृत्ति कभी भूलकर भी अधर्म की ओर नहीं जाती थी, जो सदा श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों का ही अनुसरण करते थे, उन्हीं के पद-चिन्हों को परम लक्ष्य मानकर आगे बढ़ते थे। उनको जहाँ भगवान् बैठाते थे वहीं बैठते थे, जहाँ जाने को कहते थे वहीं जाते थे, जिस कार्य के करने को मना करते, उसे भूलकर मन से भी न करते थे। तभी वे तो प्रातः स्मरणीय और पुण्यश्लोक बन सके। उन्होंने जिस क्षण भगवान् के स्वधाम पधारने की बात सुनी, उसी क्षण अपना राज-मुकुट से सेवित दिव्य सिंहासन त्याग दिया और उत्तराखण्ड की ओर चले गये। उन्हीं के उत्तराधिकारी तो आप हैं। आप फिर अपना सर्वस्व त्यागकर श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में चित्त क्यों न लगावेंगे।"

मुनियों के ऐसे सारगर्भित वचन सुनकर महाराज परीक्षित् अत्यन्त ही नम्र हो गये। उन्होंने समस्त मुनियों को फिर से प्रणाम किया। अब वे ऋषि-मुनि आपस में ही कहने लगे—"देखो, यह राजा कितना धर्मात्मा है, कितना नम्र है। भूल से एक छोटा-सा अपराध बन गया है उसी के कारण यह कितना दुखी है। उस मुनिपुत्र ने लड़कपन ही किया। उसके पिता ने उसकी बात का समर्थन नहीं किया। यही नहीं उसे बहुत डाँटा-डपटा भी। अब जो हुआ सो हो गया। हम अपनी योगदृष्टि से देख रहे हैं, राजा की मृत्यु इसी कारण से होनी थी। इनके जन्म के समय ही ज्योतिषियों ने यह बात बता दी थी। अब हम लोगों का एक कर्तव्य है—जब तक ये राजर्षि अपना शरीर त्याग न करें, तब तक हम सब यहीं बैठे रहें। इन धर्मात्मा राजा की दुर्गति न होने दें। ब्राह्मणों की अपकीर्ति

न होने दें कि इतने धर्मात्मा राजा को शाप देकर–अपमृत्यु करा-कर नरक भेज दिया। अब हम सब मिलकर इनके उद्धार का उपाय सोचें।"

वृद्ध मुनि की बात सुनकर सभी ऋषि-मुनियों ने हर्ष के साथ कहा—"सत्य है, सत्य है, हम सब सात दिनों तक कहीं भी न जायेंगे, इन राजर्षि के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए यहीं बने रहेंगे।"

जो ऋषि माया मोह से सदा दूर रहने वाले हैं, उनके ऐसे सहानुभूति सूचक वचन सुनकर महाराज प्रेम में अधीर हो उठे, उनके नेत्रों में जल आ गया। उन त्यागी विरागी ऋषियों के अमृतोपम पक्षपात शून्य गम्भीर और छल-कपट से रहित वचन सुनकर कृतज्ञता के भार से नत हुए महाराज परीक्षित् कहने लगे—"मुनियो! किन शब्दों के द्वारा मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ? क्या कहकर मैं अपने मनोगत भावों को व्यक्त करूँ? आप सबके सम्बन्ध में मैं जो भी कुछ कहूँगा, वही न्यून होगा और वह आपका सम्मान न होकर अपमान ही होगा। यह प्राकृत मानुषी वाणी तो संसारी विषयों को ही व्यक्त कर सकती है। इस लोक के ही पदार्थों का संकेत कर सकती है। आप सब इस लोक के जीव हैं नहीं। आप सब तो सीधे सत्यलोक से पधारे हैं। आप अपने भोगों को भोगने के निमित्त अवनि पर अवतरित नहीं हुए हैं। लोकों पर अनुग्रह करने के निमित्त, केवल दयावश ही आपने अपना यह मानुषी विग्रह धारण किया है। परोपकार करना तो आपका स्वभाव ही है। दया किये बिना आप रह ही नहीं सकते। उस दया के वशीभूत होकर ही आपने मुझ अधम नीच पर अहैतुकी कृपा की है। आप सबके ज्ञान-विज्ञान की कोई नाप तोल नहीं। आप सबका ज्ञान अगाध है। मानों साक्षात् वेद ही अनेक रूप धारण करके यहाँ पधारे हैं। अब

जब आप सबने इस सेवक पर इतनी कृपा की ही है तो मैं आप सबसे एक प्रश्न करना चाहता हूँ। आप सबकी आज्ञा मिलने पर मैं अपने प्रश्न को पूछूँगा।"

यह सुनकर वे वृद्ध मुनि बोले–"राजन् ! आप निर्भय होकर, बिना सङ्कोच के अपना प्रश्न पूछिये। हम सब अपनी-अपनी मति के अनुसार उसका उत्तर देंगे।"

महाराज बोले—"मुनियो ! एक तो मेरा सामान्य प्रश्न है, एक विशेष प्रश्न है। आप सब शास्त्रों के ज्ञाता हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप सब मिलकर जो भी निर्णय करेंगे, जो भी उत्तर देंगे, उससे मेरा ही नहीं, प्राणिमात्र का उपकार होगा। मेरा सामान्य प्रश्न तो यह है कि आप सब ऐसा कोई सर्वश्रेष्ठ सुन्दर, सुगम साधन बताइये, जिसे सभी जीवों को सभी अवस्थाओं में सर्वदा करते रहना चाहिये। जिसके करने से आत्यन्तिक कल्याण की प्राप्ति हो और विशेष प्रश्न यह है कि जिसकी मृत्यु अत्यंत ही सन्निकट हो, उसे कौन-सा कर्म करना चाहिये ?"

इस पर वे मुनि बोले—"राजन् ! यह तो सभी जानते हैं कि सदा शुभ कर्म करते रहना चाहिये, अशुभ कर्मों से बचते रहना चाहिये।"

महाराज अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"हाँ, मैं यही तो जानना चाहता हूँ कि सबसे श्रेष्ठ शुभ कर्म कौन-सा है ? शुभ कर्मों की कोई एक निश्चित संख्या तो है नहीं। किसी अवस्था में कोई कर्म शुभ समझा जाता है, वही देश, काल, पात्र और अवस्था भेद से कभी अशुभ भी हो जाता है। कोई कभी कहीं पर विहित माना जाता है, वही दूसरे स्थानों में अविहित ठहरा दिया जाता है। मैं एक ऐसा कर्तव्य कर्म जानना चाहता हूँ, जो सर्वथा सब अवस्थाओं में शुभ ही हो। जिसके करने से सभी को सर्वदा सुख की ही प्राप्ति हो। यज्ञ

याग, जप, तप, तीर्थ, व्रत, दान, पूजा, अर्चा, ज्ञान, ध्यान, सभी श्रेष्ठ हैं। बहुत अवस्था हो तो इन सबको करते हुए काल यापन करना चाहिये, किन्तु जब मृत्यु सिर पर ही आ गई हो, उस समय तो सब कुछ छोड़कर एक ही कर्म करके परम पद की प्राप्ति हो सके, उसका आप सब मिलकर आदेश करें। यहाँ ऋषि मण्डली में जो निर्णय हो जायगा, वह सभी को मान्य होगा।"

महाराज के गूढ़ प्रश्न को सुनकर सभी ऋषि चकित हो गये। अब वे परस्पर में मुख्य कर्तव्य के विषय में वाद-विवाद करने लगे। कोई ज्ञान को श्रेष्ठ बताते। कोई कर्म की प्रशंसा करते, कोई उपासना का महत्त्व बताते, कोई दान, धर्म, जप, योग, समाधि, मन्त्रानुष्ठान, आदि पर बल देते। सब मिलकर कोई निर्णय न कर सके। ऋषि-मुनियों में इस प्रकार परस्पर में वाद-विवाद होते देखकर महाराज परीक्षित् हाथ जोड़कर खड़े हो गये और बोले—"महर्षियो! ऐसे काम न चलेगा। मैं एक सर्वोत्कृष्ट सबसे ऊँचा सिंहासन लगवाये देता हूँ, जिनमें साहस हो, जो इसकी निर्भीक होकर प्रतिज्ञा करें कि हम अपने साधन द्वारा सात दिनों में अवश्य ही राजा की मुक्ति करा देंगे, वे उस आसन पर विराज जायँ। मैं तो सब प्रकार से आपका सेवक ही हूँ। मैंने अपने चित्त को सभी संसारी बातों से हटा लिया है। आप सब एक मत होकर मुझे जो भी करने को कहेंगे, उसे ही मैं बिना बिचारे करूँगा। अब देर करने का काम नहीं, अब वाद-विवाद और शास्त्रार्थ का समय नहीं। अब तो मुझे पल-पल भारी हो रहा है। अब तो आप सब मिलकर सार तत्व बता दीजिये। सर्वश्रेष्ठ सुगम साधन मुझे सुझा दीजिये।"

इतना कहकर महाराज ने एक बहुत सुन्दर दिव्य सिंहासन सजवाकर व्यास- पीठ बना दी। उस उत्तम सिंहासन को देखकर

सभी एक दूसरे के मुख की ओर ताकने लगे। वे सब मुनि तो त्रिकालज्ञ थे। वे जानते थे इस आसन का अधिकारी कौन है ? अतः उनमें से किसी ने भी उस उत्तमोत्तम आसन पर बैठने का साहस नहीं किया। यह देखकर राजा को बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—"मेरा उद्धार नहीं होगा क्या ? क्या ऋषि मुनि मुझे विप्रद्रोही समझकर मेरा तिरस्कार तो नहीं कर रहे हैं।"

छप्पय

सब मुनि ! मोकूँ महामन्त्र दै पार लगावें।
कृष्ण चरन महँ चित्त लगे सो गैल बतावें॥
विद्या, साधन, शास्त्र सबहिँ हैं न्यारे न्यारे।
जो जिनकूँ अनुकूल परैं, ते तिनकूँ प्यारे॥
सरल सुगम सुन्दर सरस, सब मिलि सुठि साधन कहैं।
जिहिँ कलियुग नर नारि गहि, भक्ति मुक्ति दोउ लहैं॥



मुनि-मण्डली में श्रीशुक का शुभागमन

[८३]

तत्राभवद् भगवान् व्यासपुत्रो
यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः ।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो
वृत्तश्च वालैरवधूतवेषः ॥*

(श्री० भा० १ स्क० १६ अ० २५ श्लोक)

छप्पय

मधुर बचन नृप कहे मुनिनि के मन महँ भाये ।
ताही छिन निरपेक्ष व्याससुत शुक तहँ आये ॥
तरुन अरुन कर चरन कमल सम नयन रँगीले ।
मनहर लोल कपोल अङ्ग सुकुमार गँठीले ।
कंध सिंह सम विपुल उर, कारे कुञ्चित केश अति ।
मृदु मुसकावन स्याम तनु, मत्तगयन्द समान गति ॥

संसारी किसी पुरुष से आशा न रखकर जो भगवान् के भरोसे पर ही रहते हैं जिन्होंने अपना शरीर तथा मन प्राण प्रभु

---

* ऋषि मुनि जब परस्पर में साध्य साधन तत्व का विचार कर ही रहे थे कि इतने में स्वच्छन्दता से पृथ्वी पर विचरण करते हुए निरपेक्ष व्यासनन्दन भगवान् शुकदेवजी वहाँ आ पहुँचे । उनके शरीर पर किसी वर्ण या आश्रम का कोई चिह्न नहीं था । वे अवधूत वेष में आत्म-लाभ में सन्तुष्ट हुए चले आ रहे थे । बहुत-सी स्त्रियाँ तथा बालक उन्हे पागल समझकर घेरे हुए थे ।

के पादपद्मों में अर्पण कर दिया है, उनके कोई मनोरथ विफल नहीं होते। उनके मन में जो इच्छा उठती है श्यामसुन्दर उनके कल्याण के निमित्त उसे ही पूरी करते हैं। जब मनुष्य विश्वास खोकर अधीर हो जाता है, तभी दुःख पाता है। जो अन्त तक विश्वास को नहीं छोड़ता, जिसका यह अटल निश्चय बना रहता है कि वे सर्वान्तर्यामी प्रभु किसी-न-किसी रूप में आकर मेरे मनोरथ को पूर्ण करेंगे, उसके न जाने कैसे सभी कार्य किसी-न-किसी को निमित्त बनाकर पूरे हो जाते हैं। एक बार नहीं लाखों बार का यह अनुभव है कि जिसे सभी लोग असम्भव समझते थे, ठीक उसी समय ऐसी सहायता प्राप्त हुई है कि असम्भव सम्भव बन गया है, दुष्कर सुकर हो गया। यदि ऐसा न होता हो तो भगवान् पर कोई अब तक विश्वास करता ही नहीं।

महाराज परीक्षित् के पारमार्थिक प्रश्न का जब मुनि मंडली की ओर से कोई निश्चित उत्तर न मिला, तब वे कुछ चिन्तित से हो उठे। उनके मन में यह बात आई कि अब मेरा उद्धार कैसे होगा? बस इस बिचार के उठते ही क्या देखते हैं कि उत्तर दिशा की ओर से कुछ हल्ला सुनाई दिया। सभी का ध्यान उसी ओर आकृष्ट हुआ। सभी ने देखा—बहुत से बालक और स्त्रियों से घिरे हुए परमहंस शिरोमणि भगवान् शुक अपनी मस्ती में चले आ रहे हैं।

श्री सूतजी कहते हैं—"सुनियो! जब महाराज परीक्षित् के प्रायोपवेश व्रत की बात सर्वत्र फैल गयी तो दैवयोग से मैं भी तब उधर ही घूम रहा था। सब ऋषि मुनियों को गंगा तट जाते देखकर कुतूहल वश मैं भी उनके साथ-साथ चला गया। यह सब दृश्य मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा था। सर्व प्रथम अपने गुरुदेव भगवान् शुक के दर्शन मुझे वहीं हुए थे। वहीं मैंने उन सौन्दर्य के साकार विग्रह को निरखकर अपने

नेत्रों को सफल बनाया था। अहा! कैसी थी उनकी अनुपम छटा, कैसा था उनका अनिन्द्य निरवद्य सौन्दर्य! कैसी थी उनकी मत्त गयन्द के समान मस्ती से भरी हुई चाल। संसार से वे कितने निरपेक्ष दिखाई देते थे। संसार में ऐसा देखा गया है कि कुरूप पुरुष भी जब नाना प्रकार के तेल फुलेल, महुमूल्य वस्त्राभूषणों से अपने को सजा लेता है तो वह उस सजावट के कारण कुछ आकर्षक बन जाता है किन्तु जो स्वभाव से ही सुन्दर है, वह जिस अवस्था में भी रहे, उसी में सुन्दर लगता है वस्त्राभूषणों से उसकी शोभा बढ़ती नहीं, किन्तु उसके अङ्गों में जाकर वे वस्त्राभूषण ही सुशोभित बन जाते हैं। वह अपने शरीर पर धूलि भी लगा ले तो भी उसी के द्वारा उसकी अनुपम शोभा हो जाती है। स्वाभाविक मनोहरता के लिये मंडन की, साज-शृङ्गार की अपेक्षा नहीं।

पाँच पाण्डवों में सहदेव सब से सुन्दर थे। एक तो वे अश्विनी कुमारों के अंश से उत्पन्न हुए थे, जो स्वर्ग के देवताओं में सबसे सुन्दर समझे जाते हैं। दूसरे उनकी माता मद्र देश की थीं, जहाँ के स्त्री-पुरुष प्रायः गौरवर्ण के ही होते हैं। इन्हीं सब कारणों से उस समय ये सुन्दर पुरुषों में अद्वितीय माने जाते थे। यहाँ तक सुनते हैं कि वन में जब वे किसी ग्राम से होकर निकल जाते थे तो सियानी लड़कियाँ और स्त्रियाँ कोसों अपने आपे को भूलकर उनके पीछे-पीछे उनके सौन्दर्य को निहारती हुई चली जाती थीं। इसीलिये वे अपने सम्पूर्ण शरीर में वनवास के समय मिट्टी लपेटे रहते थे कि कोई उनके असली सौन्दर्य को न देख सके। मुनियो! मैंने पाण्डुनन्दन सहदेव को देखा था, सचमुच वे बड़े ही सुन्दर थे। किन्तु मेरे गुरुदेव भगवान् व्यासनन्दन के समान मुझे संसार भर का सौन्दर्य तुच्छ दिखायी दिया। या तो अनुपम लावण्य, माधुर्य भगवान्

श्यामसुंदर के ही श्री विग्रह में था या इन परमहँस-चक्र चूड़ामणि व्याससुअन भगवान् शुक के ही श्रीअङ्ग में, दोनों में मुझे तो कोई भेद भाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। एक-सी आभा, एक-सी कान्ति, एक-सा वपु, एक-सी वय, एक-सी उठन बैठन, चलन चितवन, मन्द मुस्कान। सभी में साम्य था। अन्तर इतना ही था वे सदा सजे-बजे-से रहते थे, ये अवधूत होने के कारण नङ्ग धड़ंगे, बाल खोले प्रेत पिशाच तथा पागल की भाँति इधर से उधर अकारण घूमते रहते थे, इस स्वाभाविकता के कारण इनका सौन्दर्य और भी, निर्मल स्वच्छ और मनोहर प्रतीत होता था।

सिर के बाल काले घुँघराले, घने, न बहुत बड़े, न बहुत छोटे, टेढ़े और अत्यन्त कोमल हों तो श्रेष्ठ माने जाते हैं। उन्हें नाना प्रकार के सुन्दर सुगन्धित गुणकारी पदार्थों से धोया जाय, भाँति-भाँति से चिकने गन्ध-युक्त तेल फुलेलों से तर किया जाय, उनमें चित्र विचित्र पुष्प लगाये जायँ तो और चित्ताकर्षक और नयनानन्ददायक दिखाई देते हैं, किन्तु मेरे गुरुदेव के बालों में यह सब कुछ भी नहीं हुआ था। कभी न धोने के कारण उनकी छोटी-छोटी लटें-सी बन गयीं थीं। वे कंधों तक बिना व्यवस्था के बिखरी हुई थीं। उनमें धूलि भरी हुई थी। जिस समय वे सिर हिलाते उस समय ऐसा प्रततीत होता था, मानों छोटे-छोटे नागों के छोने टेढ़े होकर चन्दन की शाखा में लटके हुए हिल रहे हों। उनके बाल स्वाभाविक ही घुँघराले थे कभी उनमें स्निग्धता तेल आदि न पड़ने से बीच-बीच में मोटी-मोटी गाँठें पड़ गयी थीं। टेढ़ी-मेढ़ी लटों में वे गाँठें ऐसी ही लगती थीं मानों बहुत से लटके हुए छोटे-छोटे तार के टुकड़ों में पंक्ति वद्ध भ्रमर लटक रहे हों। वे बाल कपोलों का स्पर्श कर रहे थे। इससे ऐसा लगता था मानों मुख रूपी कमल के सौरभ

के लम्पट भ्रमर उसे पान करने का प्रयत्न कर रहे हों। उनका मस्तक विशाल था। धूल से भरा होने से, वे भस्म लगाये शिव भक्त के समान दिखाई देते थे। भौएँ टेढ़ी और धनुष के आकार की अत्यन्त ही मनोहर थीं, ध्यान करने के कारण जब वे ऊपर चढ़ जातीं तो ऐसी प्रतीत होतीं मानों आकाश को फोड़ने के लिये कामदेव ने दो बाण ताने हों। उनकी नासिका उन्नत थी। नीचे की ओर अत्यन्त नुकीली होने से वे साक्षात् शुक ही से दिखाई देते थे। अन्तर इतना ही था कि शुक की नाक अत्यन्त लाल वर्ण की अधिक टेढ़ी होती है, इनकी नासिका ललाई लिये हुए नील वर्ण की कम नुकीली थी। दोनों बड़े-बड़े नेत्र कमल के समान थे। उनके पलक काले थे। भीतर का भाग गङ्गाजल के समान स्वच्छ था। यमुना जल के सदृश गहरे नीले रंग की पुतलियाँ थीं। सरस्वती के सदृश अरुणता लिये हुए लाल-लाल डोरों से कमल के सबसे भीतरी कोश के सदृश कोमल और लाल होने से, शुभ्र रक्ताभा छिटक रही थी। इस प्रकार उन विशाल नेत्रों में त्रिवेणी का-सा दृश्य दिखाई देता था। निरन्तर ध्यान मग्न होने के कारण आँखों की पुतलियाँ सदा चढ़ी रहती थीं। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों दोनों पुतलियाँ दोनों भौहों की दो पुत्रियाँ हैं और उन्हें पलक रूपी बाढ़ ने बन्द कर रखा है, फिर भी वे अपनी माताओं से मिलने के लिये बार-बार प्रयत्न कर रही हैं।

उनके दोनों लालकपोल गोल और उभरे हुए थे। उन पर लगी धूलि ऐसी ही प्रतीत होती थी, मानो होली में वन विहार के समय श्यामसुन्दर के कपोलों पर गुलाल के स्थान पर अबीर ही मल दिया हो। कभी-कभी आँखों की कोर से अश्रु विन्दु लुढ़क-लुढ़ककर कपोलों से होकर वक्षस्थल की ओर जाते हुए ऐसे प्रतीत होते थे। मानों माता के स्तन से निकले दुग्ध

विन्दु बच्चे के मुख के दोनों ओर से बहकर उसके वस्त्रों को भिगो रहे हों।

चिकने लाल पतले दोनों ओठ दो कमल के कोशों के समान निरन्तर नाम स्मरण करने से उसी प्रकार हिल रहे थे जैसे मछ-लियों के आने-जाने से कमल-कोश हिल जाते हैं। उनकी दन्ता-वली शुभ्र स्वच्छ चाँदनी के समान निर्मल थी। जब वे बालकों को देखकर हँस पड़ते तो दाँतों की शुभ्र आभा उसी प्रकार शोभा देती जैसे शरद के दिन पूर्व में दो लाल रङ्ग के बादलों के बीच से चन्द्रमा उदित हुआ हो। उनकी अवस्था षोडश वर्ष की थी। ऊपर का ओष्ठ कुछ-कुछ काला पड़ने लगा था, उसमें से छोटी-छोटी रेख निलकती हुई उसी प्रकार प्रतीत होती थी जैसे काले कमल की कर्णिका के भीतर से अंकुर निकलने आरम्भ हुए हों। उनके दोनों कान समान थे, ग्रीवा शङ्ख के समान उतार चढ़ाव की थी। कन्धे सिंह के समान विशाल और भरे हुए थे। जिस समय वे ग्रीवा को हिलाते उस समय कन्धों पर लटकी हुई लटें इसी प्रकार हिलती थीं, मानो किसी सम्राट् के ऊपर दो कृष्ण वर्ण के चमर हिल रहे हों। सुन्दर सुहावनी उतार चढ़ाव की दोनों भुजाएँ उसी तरह दिखाई देती थीं, मानो तमाल वृक्ष की दो बड़ी-बड़ी शाखायें हों। उनकी छाती चौड़ी, स्तन काले थे, धूलि लगने से वक्षस्थल के बाल सफेद-सफेद उसी प्रकार दिखाई देते थे, मानो विशाल कृष्ण-वर्ण की शिला पर सफेद ऊन का आसन बिछा हो। उदर में त्रिवली शोभा दे रही थी। गम्भीर नाभि गङ्गाजी के श्रावण-भादों के भँवरों के समान गोल और पेचदार थी। दशों दिशायें ही उनके बहुमूल्य वस्त्र थे। धूलि के अतिरिक्त शरीर पर एक वस्त्र की चीर भी नहीं थी। कदली खम्भ के समान उनकी मोटी-मोटी जङ्घाएँ, उतार चढ़ाव की पिण्डलियाँ और सुन्दर सुकोमल लाल तलवे वाले चरण थे। उनका एक-एक अङ्ग

सुन्दर से भी सुन्दर था। उनके सौन्दर्य की किसी संसारी सौंदर्य से तुलना नहीं की जा सकती थी। सौन्दर्य को भी लज्जित करने वाला उनका रूप था। वे अपनी मस्ती में झूमते हुए–आत्मानन्द में निमग्न हुए–चले आ रहे थे। उनके अद्भुत सौन्दर्य माधुर्य से से आकृष्ट होकर बहुत-सी ग्रामीण स्त्रियाँ तथ बच्चे उनके पीछे-पीछे आ रहे थे। बच्चे उन्हें सिड़ी पागल समझते। कोई उन पर धूलि फेंकता कोई उन पर ढेला चला देता। बड़े लड़के छोटों को डाँटते, ऐसा करने से रोकते, बच्चे चिल्ला उठते—"पागल है, लू-लू है।" इतना कहकर सब हँस पड़ते। शुकदेवजी भी उनकी हँसी-में-हँसी मिलाकर हँस पड़ते। कभी चलते-चलते खड़े हो जाते, कभी बालकों की ओर निहारते, फिर चल पड़ते। इस प्रकार अद्भुत क्रीड़ा करते हुए वे गुरुओं के गुरु, मेरे आराध्य-देव श्रीकृष्णद्वैपायन–तनय भगवान् श्रीशुक उस मुनि–मण्डली के सन्निकट आ पहुँचे। सभी की दृष्टि उधर ही लगी थी। पहिले तो कोई उन्हें पहिचान ही न सका। जब वे एक दम समीप ही आ गये तो जानने वालों ने उन्हें जाना, लक्षणों से पहिचाना। यौवनावस्था के उभार के कारण श्याम रङ्ग का उनका शरीर बिना शान पर चढ़ाई नीलमणि के समान धूलिसे ढका हुआ अत्यन्त तेजस्वी दिखाई दे रहा था इन्हें देखते ही सभी ऋषि-मुनि अपने-अपने आसनों से उनका आदर करने के निमित्त उठ खड़े हुए। उन्होंने सभा में किसी की ओर देखा भी नहीं। उनके पिता भगवान् व्यासदेव वहाँ बैठे थे, पितामह पराशरजी उपस्थित थे, पितामह के भी पितामह भगवान् वसिष्ठ उस सभा की शोभा बढ़ा रहे थे। किसी की कुछ भी चिन्ता न करके वे सीधे उस सबसे ऊँचे सिंहासन पर आप ही जा बैठे। एक नङ्ग-धड़ङ्गा युवा मुनि पुत्र बड़े-बड़े वयोवृद्ध ऋषि-मुनियों के बीच में बिना किसी शील सङ्कोच के सबसे ऊँचे आसन पर जा बैठा तो न्याय

से सभी को यह बात बुरी लगनी चाहिये थी, किन्तु वहाँ किसी को भी उनका यह व्यवहार बुरा नहीं लगा। जैसे एक निष्कपट भोला-भाला शिशु अपने आप ही सम्राट् की गोद में जा बैठे तो सभी कौतुकवश हँस जाते हैं, उसे प्यार ही करते हैं उसी प्रकार सभी ने शुकदेवजी का सम्मान ही किया उनके तेज के सम्मुख सभी का तेज फीका पड़ गया। ऋषि-मुनियों के शिष्य और पुत्र आपस में काना फूँसी करने लगे।

कोई पूछता—"ये कौन हैं? ये बड़े मनोहर हैं, इन्हें संसार का कुछ भान ही नहीं। कैसी दर्शनीय मूर्ति है!"

दूसरा कहता—"अरे, तुम नहीं जानते? ये ही तो भगवान व्यास के तनय श्रीशुक हैं? ये जन्म से ही त्यागी-विरागी हैं। इन्होंने अपना उपनयन संस्कार तक नहीं कराया। माता के उदर से उत्पन्न होते ही अरण्य की ओर चल दिये।"

इस पर दूसरा आश्चर्य प्रकट करता हुआ कहता—"हाँ, ये ही महाभाग परमहंस चूड़ामणि श्रीशुकदेव हैं? भैया! इनके त्याग-वैराग्य की बातें तो हम बहुत दिनों से कथा प्रसङ्गों में सुनते आये हैं। धन्यभाग! आज इनके भी दर्शन हो गये। इस प्रकार श्रीशुक के पधारते ही समस्त सभा में एक प्रकार का आनन्द और आश्चर्य-छा गया। मानों समुद्र में ज्वार-भाटा आने से उसके जल में बड़ी-बड़ी तरंगे उठने लगी हों।"

छप्पय

धूरि भरयो तनु दृष्टि इष्ट चरननिमहँ लागी।
रतिपति सम अति सुघर देह की सुधि बुधि त्यागी॥
वेष दिगम्बर केश खुले सङ्ग बालक भागें।
निरखि नारि सौन्दर्य चलीं सब कारज त्यागें॥
ऋषि-मुनि निरखे व्यास सुत, जानि सबनि आदर दयो।
बैठे पूजित पीठि पै, नृप-मन अति आनन्द भयो॥

श्रीशुकजी से पारमार्थिक प्रश्न

[८४]

स विष्णुरातोऽतिथय आगताय
तस्मै सपर्यां शिरसाऽऽजहार ।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका
महासने सोपविवेश पूजितः ॥*

(श्री० भा० १ स्क० १९ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

विधिवत् पूजा करी नृपति यों बचन उचारे ।
दीये दरशन देव ! दुरित सब हरे हमारे ॥
जिनको सुमिरन करत रागयुत होहिँ विरागी ।
तिनको दरशन पाहिँ भाग्यशाली बड़ भागी ॥
अहो, आज द्विज-द्रोह करि, के हूँ हौं पावन भयो ।
अतिथि आइ श्रीशुक भये, निन्द्य कृतारथ ह्वै गयो ॥

गुरु में और भगवान् में कोई भेद नहीं। जैसे भगवान् सर्व-व्यापक हैं, उसी प्रकार गुरु तत्त्व भी सर्व व्यापक है। बिना भूख के दूसरों के आग्रह से किये हुए भोजन में न तो अपने आपको स्वाद ही आता है, न उसका शुद्ध रस बनकर शरीर का पोषण ही करता है। यही नहीं बिना भूख अनिच्छा पूर्वक किया

---

* अतिथि रूप में पधारे हुए श्रीशुक को देखकर विष्णुरात महाराज परीक्षित् ने मस्तक नवाकर उन्हें प्रणाम किया और उनकी विधिवत् पूजा की। उन दिगम्बर परमहंस की महाराज के द्वारा पूजा होते देखकर उनके पीछे जो स्त्रियाँ और अज्ञ बालक आये हुए थे, वे लौट गये और राजा द्वारा पूजित होकर श्रीशुकदेवजी सबसे ऊँचे आसन पर विराजमान हो गये।

हुआ भोजन दूसित आँव को उत्पन्न करके विष के समान प्रभाव-शाली बन जाता है। खूब कड़ाके की भूख लग रही हो, उस समय जो सुन्दर स्वादिष्ट स्वतः ही भोजन आता है, उसे देखकर प्रसन्नता होती है, पाते समय हृदय प्रसन्न होता है, भीतर शुद्ध रस बनता है। तुष्टि-पुष्टि और भूख की निवृत्ति प्रत्येक ग्रास-ग्रास पर होती है। इसी प्रकार जब हृदय में परमार्थ की प्रबल जिज्ञासा हो, सर्वान्तर्यामी गुरु स्वयम् ही अधिकारी समझकर उसके सम्मुख प्रकट होते हैं और उसके सम्पूर्ण संशयों का छेदन करते हैं। योग्य गुरु अपात्र को कभी उपदेश नहीं करते, क्योंकि अपात्र में किया हुआ उपदेश उसी प्रकार व्यर्थ हो जाता है, जैसे ताँबे के पात्र में रख देने से दधि व्यर्थ हो जाता है, भस्म में किया हुआ हवन व्यर्थ होता है, अथवा कड़वी तुम्बी के बनाये हुए साग में डाला हुआ घृत या मसाला व्यर्थ होता है।

महाराज परीक्षित् सात दिन में अपनी आयु की बात सुन-कर विषयों से विरक्त हो चुके थे। उन्होंने राज्य-पाट, धन-धान्य स्त्री परिवार सभी का त्याग कर दिया था। यहाँ तक कि उन्होंने अन्न-जल भी त्याग दिया था। कृष्ण में ही अपना चित्त लगाए, सर्वश्रेष्ठ साधन की जिज्ञासा में, मुनियों से घिरे गङ्गा तट पर बैठे थे। उनसे उत्तम अधिकारी और कौन हो सकता है? इसीलिये सर्वसङ्ग विनिर्मुक्त, निरपेक्ष, परम त्यागी-विरागी भगवान् शुक भी उनकी प्रबल जिज्ञासा के आकर्षण से खिंचकर बिना बुलाये ही उनके समीप चले आये। क्षण भर पहिले परमसाध्य तत्त्व के प्रश्न से जो मुनियों में परस्पर वाद-विवाद हो रहा था। जिसे सुनकर महाराज को कुछ-कुछ निराशा-सी होने लगी थी, श्रीशुक के पधारने से वह निराशा आशा के रूप में परिणित हो गयी। व्याससुअन शुक स्वयम् ही सर्वोच्च आसन पर आसीन हो गये, तब तो महाराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। दौड़कर उन्होंने

परमहंस शिरोमणि महामुनि के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उनकी चरण धूलि शिर पर धारण की। सुन्दर जल से उनके धूलि में भरे-पङ्क लगे पङ्कज के समान अरुण चरणों को मल-मल-कर धोया, अर्घ्य, आचमनीय, धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प, फलों से उनकी विधिवत् पूजा की। एक सुन्दर सुगन्धित कमलों का हार उनके गले में पहिनाया। श्रीशुक ने राजा की, की हुई पूजा शास्त्र विधि से स्वीकार की। राजा के द्वारा पूजित और उच्चासन पर विकसित कमलों की लम्बी माला को पहिने वे उसी प्रकार शोभा दे रहे थे, जिस प्रकार महाराज बलि के यज्ञ में ऋषियों से घिरे भगवान् वामन शोभित हुए थे। अथवा मुनि मण्डली में ब्रह्मपुत्र सनतकुमार कथा कहने को बैठे हों। जिस प्रकार ताराओं के बीच में शरद कालीन चन्द्रमा की शोभा होती है, उसी प्रकार परीक्षित् परिषद् में—मुनियों के बीच में—परमहंस श्रीशुक शोभा पा रहे थे।

श्रीशुकदेवजी के पीछे जो बहुत-सी ग्रामीण स्त्रियाँ तथा छोटे-छोटे अज्ञ बालक आ रहे थे, उन्होंने जब देखा कि इन पागल की तो चक्रवर्ती महाराज परीक्षित् ऐसी पूजा कर रहे हैं, इनके सम्मुख साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहे हैं, तब तो वे सब मारे डर के वहाँ से भाग गये। सभी ऋषि-मुनि अपने-अपने आसनों पर बैठ गये। सम्पूर्ण सभा में शान्ति-छा गयी। सभी मौन थे। वायु भी अत्यन्त मन्द-मन्द गति से बहने लगी। प्रकृति की स्तब्धता को भङ्ग करते हुए, महाराज परीक्षित् श्रीशुक के समीप आकर उन्हें पुनः प्रणाम करके दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधे हुए गद्गद कण्ठ से बोले।

महाराज उन आये हुए अपने अद्वितीय अतिथि का स्वागत करते हुए कहने लगे—"ब्रह्मन् ! आपकी अहैतुकी कृपा के सम्बन्ध में कुछ कहने की शक्ति तो मुझमें है ही नहीं। आप त

कृपा के सागर ही हैं। जीवों पर दया करना, उन्हें कुपथ से हटा-कर सुपथ पर लगाना, यह तो आपका स्वभाव ही है। आपकी प्रत्येक चेष्टा लोक कल्याण के ही निमित्त होती है। अतः आपके लिये जो भी कुछ कहा जाय, जो भी कुछ प्रशंसा की जाय, सब व्यर्थ है। मैं तो आज अपने भाग्य की प्रशंसा कर रहा हूँ। मैं कितना भाग्यशाली हूँ जो आज मुझे आपके देव दुर्लभ दर्शन का सर्वोत्तम सौभाग्य प्राप्त हुआ। महाराज ! हम अब नाम मात्र के ही क्षत्रिय रह गये हैं, किसी की भी दुःख से रक्षा नहीं करते, उलटे साधु ब्राह्मणों को और दुःख देते हैं। ऐसे होने पर भी आपने हमारे अवगुणों की ओर ध्यान नहीं दिया। अतिथि रूप में पधारकर हमें परम पावन बना दिया।"

योगशास्त्र के आचार्यों का मत है कि योगेश्वरों का स्मरण करने से योग में आये हुए समस्त विघ्नों का नाश हो जाता है। आपके स्मरण मात्र से ही सब दुरित दूर हो जाते हैं तो फिर जिन्हें आपके दर्शनों का, पादस्पर्श का, आपके सङ्ग बात-चीत करने का, आपके श्रीअङ्गों की सेवा करने का, आपके पैर धोने का तथा आसन, भोजन आदि देकर सेवा करने का शुभ अवसर प्राप्त जो जाय, उनके तो भाग्य के सम्बन्ध में कुछ कहना ही व्यर्थ है। जो सौभाग्य देवताओं को भी दुर्लभ है, वह आज भाग्यवश मुझे स्वतः ही प्राप्त हुआ। मैं इसी चिन्ता में था कि मेरे पाप कैस दूर होंगे ? किन्तु अब आपके आ जाने से मैं निश्चिन्त हो गया। जैसे दैत्यों से भयभीत देवता गदा लेकर रण में भगवान् विष्णु के पधारने से निर्भय हो जाते हैं और समस्त दैत्य भग-वान् के भय से भाग जाते हैं, उसी प्रकार मेरे भी पाप, ताप, सन्ताप आपकी सन्निधि से नष्ट जायँगे, विनाश को प्राप्त हो जायँगे।"

महाराज के विनीत वचन सुनकर श्रीशुक ने उनका अभि-

नन्दन किया और बोले—"राजन् ! तुम बड़े धर्मात्मा और साधु-सेवी हो। तुम्हारे पुण्य के प्रभाव से ही तो इतने ऋषि-मुनि बात-की-बात में यहाँ एकत्रित हो गये हैं।"

अत्यन्त ही दीनता के साथ महाराज बोले-"प्रभो ! धर्मात्मा ही होता तो मुझे विप्र शाप क्यों होता ? क्यों मेरी बुद्धि अधर्म-कार्य में प्रवृत्त होती। मेरा अपना निजी तो कोई ऐसा प्रबल पुण्य है नहीं, जो आप जैसे सन्तों का सत्सङ्ग प्राप्त हो सकता, स्वयं तो मेरे ऐसे सुकृत हैं नहीं। प्रतीत होता है, मेरे पूर्वजों के पुण्य से ही मुझे यह सुअवसर प्राप्त हो सका है। मेरे पितामहों पर भगवान् श्यामसुन्दर का अनुग्रह था। वे उन्हें अपनी बुआ का पुत्र कहकर उनके सब कार्य करते थे, उनके हित में सदा संलग्न रहते थे। प्रतीत होता है, उसी नाते को निभाते हुए पांडवों के सौहार्द का स्मरण करके उन्हीं की प्रसन्नता के निमित्त उन्होंने मेरे ऊपर ऐसा अनुग्रह किया है। कृपा करके आपका साक्षात्कार कराया है। नहीं तो सदा ही वन में रहने वाले आपका दर्शन मरने के समय मुझे कैसे हो सकता था ? आपकी गति अव्यक्त है, आप सिद्ध हैं, इच्छानुसार रूप बना सकते हैं, जहाँ जाना चाहें, क्षण में जा सकते हैं। अपने पुरुषार्थ से-प्रयत्न करके-कोई आपको पाना चाहे तो नहीं पा सकता। ऐसे सिद्ध महापुरुषों का दर्शन संसार-पङ्क में फँसे हम विषयासक्त प्राकृत प्राणियों को होना असम्भव ही है। अब मेरा एक प्रश्न है उसी को मैं इन सभी महर्षियों से पूछ रहा रहा। सौभाग्यवश इतने ही में आप भी आ गये। आज्ञा हो तो मैं पूँछूँ ?"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन् ! मैं आपके प्रश्नों का उत्तर देने ही आया हूँ। आपको जो भी पूछना हो निःसङ्कोच होकर पूछें।"

हाथ जोड़े हुए विनीत भाव से महाराज परीक्षित् ने कहा—"प्रभो ! मैं यही पूछना चाहता हूँ कि मनुष्यों के लिये सब कुछ

छोड़कर कौन-सा ऐसा कर्तव्य है जिसे करना ही चाहिये और विशेषकर उसके लिये जिसकी मृत्यु अत्यन्त सन्निकट आ गई हो। सर्वप्रथम आप यही बताइये कि जिसे यह निश्चय हो गया हो कि अब तो शीघ्र मुझे मरना ही है, उसके लिये क्या करना चाहिये ? उसको कौन-सी बात सुननी चाहिये, किस मन्त्र का निरन्तर जप करते रहना चाहिये और किसका भजन करना चाहिये। मरने वाले के लिये आप अचूक रामबाण औषधि बता दें, जिससे उसका फिर जन्म-मरण न हो। वह चौरासी के चक्कर से छूटकर भगवान् के परम धाम को प्राप्त कर सके। औषधि के साथ उसका पथ्य भी बताइये, क्योंकि पथ्य के बिना औषधि का उतना प्रभाव नहीं होता, जितना होना चाहिये। इसलिये कर्तव्य के साथ-ही-साथ यह भी बताइये कि कौन-कौन से कार्यों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

आप यह कह सकते हैं कि तुम्हारा यह प्रश्न बहुत गूढ़ है। इसका उत्तर देने में बहुत समय लगेगा। इतनी देर हम ठहर नहीं सकते। सो, यह तो मैं दीनबन्धो ! जानता हूँ कि आप कहीं भी किसी गृहस्थ के यहाँ अधिक नहीं ठहरते। जितनी देर में एक गौ दुही जाती है, उतनी ही देर किसी भाग्यशाली गृहस्थ के घर पर भिक्षा के मिस से जाकर खड़े हो जाते हैं। सो भी कुछ भिक्षा के लोभ से नहीं। संसार का समस्त ऐश्वर्य आपके चरणों में लोटता है। आपको भिक्षा की क्या अपेक्षा ? आप तो संसार में फँसे दीन-हीन, साधन-विहीन गृहस्थों पर कृपा करके अपने दर्शनों से उन्हें कृतार्थ करने कभी-कभी चले जाते हैं। इतना होने पर भी आप कृपा के भंडार हैं, दया के सागर हैं। आप मेरे संशयों का अवश्य ही छेदन करेंगे। यहाँ सात दिन निवास करके मेरा अवश्य ही उद्धार करेंगे। हे भगवन् ! अब मैं आपकी शरण हूँ। आप मेरी सभी शङ्काओं का समाधान करने में समर्थ हैं। आप

सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी हैं। आपसे कोई बात छिपी नहीं है। कोई भी ऐसा विषय नहीं जिसे आप जानते न हों।" इतना कह-कर राजा ने श्रद्धा भक्ति-पूर्वक महामुनि शुकदेवजी को प्रणाम किया।

सूतजी अब शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"ऋषियो! राजा के ऐसे मधुमय भाषण को श्रवण करके तथा उनकी परम मधुर स्निग्ध और विनम्र वाणी को सुनकर व्यासनन्दन भगवान् शुक बड़े ही प्रसन्न हुए। जिनके लिये कोई विषय अज्ञात नहीं, वे ही सब धर्मों के ज्ञाता श्रीशुकदेवजी राजा के प्रश्नों का उत्तर देने को उद्यत हुए।"

मुनियो! यह मैंने आपसे महाराज परीक्षित् का परम पावन भक्ति को बढ़ाने वाला उत्तर चरित्र कहा। अब भागवत के श्रोता और वक्ता एकत्रित हो गये। मेरी इस 'भागवती कथा' की भूमिका समाप्त हो गई। अब इसके आगे परीक्षित् और शुक सम्वाद आरम्भ होगा। परमहंस शिरोमणि मेरे गुरुदेव भगवान् शुकदेव, परम भागवत महाराज परीक्षित् के प्रश्न का जिस प्रकार उत्तर देंगे उसे मैं अब आप सबके सम्मुख वर्णन करूँगा। अब मैं मूल कथा का आरम्भ करूँगा। आप सब तत्परता के साथ दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

प्रभो! परम पुरुषार्थ कृपा करि मोहि बतावें।
मरणशील कस तरहिँ तुरत ताकूँ समुझावें॥
सुने सुधासम बैन नीर नैनानमहँ आयो।
बोले शुक–नृप धन्य जगत तें चित्त हटायो॥
नृपवर! सब चिन्ता तजहु, मनमोहन महँ मन घरहु।
कहूँ भागवत तत्व अब, दत्तचित्त ह्वै कें सुनहु॥

इति भूमिका समाप्त।

महाराज परीक्षित् के प्रश्न का उत्तर

[८५]

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितो नृप ।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ।।
तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वर ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ।।*

(श्री० भा० २ स्क० १ अ० १, ५ श्लोक)

छप्पय

भरतवंश अवतंस ! प्रश्न अति उत्तम कीन्हों ।
मुनिमण्डल के मध्य मोइ आदर बहु दीन्हों ।।
भूप ! मूढ़जन विषय-भोगमहँ समय बितावें ।
प्रभु पद प्रेम न करहिँ अन्तमहँ पुनि पछतावें ।।
नृपवर ! नरतनु नाव दृढ़, कृष्ण कथा पतवार है ।
केशवकूँ केवट करहिँ, सो भवसागर पार है ।।

---

* महाराज परीक्षित् के प्रश्न को सुनकर श्रीशुकदेवजी उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"हे नरपति ! आपने यह अत्यन्त ही उत्तम प्रश्न पूछा । इस प्रश्न से आपका ही नहीं, सम्पूर्ण संसार का परम हित होगा । जितने भी श्रवण, मनन और कीर्तन करते योग्य विषय हैं, उन सब में आपका यह प्रश्न सर्वश्रेष्ठ है । राजन् ! यह प्रश्न साधारण लोगों को ही नहीं, आत्मज्ञानियों को भी प्रिय है ।"

इसलिये हे भरतवंशावतंस राजन् ! जिसे अभय पद की अभिलाषा हो, उसे तो सर्वात्म स्वरूप, सबके स्वामी, सभी पापों को हरने वाले,

संसार में सर्वत्र विषमता का ही साम्राज्य है। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के न्याय से प्रायः दो मन मिलते नहीं। सम्बन्धियों में और प्रेमियों में भी कुछ-न-कुछ मतभेद बना ही रहता है। पति-पत्नी में, पिता पुत्र में, भाई-भाई में भी बुद्धि वैषम्य के कारण कलह, द्वेष तथा लड़ाई झगड़े होते देखे गये हैं। किन्तु जिसे कोई अपने मन के अनुरूप मिल गया है, एक मन ने दूसरे मन को नीर क्षीर के सदृश मिला लिया है। वे बड़भागी पुरुष हैं। किसी को अपने आपको समर्पित कर देने के मानी है अपनी सत्ता को खो देना जब तक द्वैत है, तब तक प्रेम नहीं। जहाँ पृथक्ता मिटा दी, अपनी सब वृत्तियाँ प्रेमास्पद में मिला दीं तो दो मन मिलकर दुगुने ही नहीं होते, उनकी शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती। एक और एक मिलकर ग्यारह बन जाते हैं। वे छोटे भाई धन्य हैं जिन्होंने अपनी समस्त चेष्टायें अपने बड़े भाई की चेष्टा में मिला दी हैं। पाँचों पांडवों से बढ़कर इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण और कहाँ मिलेगा ? लक्ष्मणजी इसके अनुपम उदाहरण हैं। वनवास के समय जब भगवान् पञ्चवटी पहुँचे, तब लक्ष्मणजी से बोले—"सौमित्र ! तुम अपनी इच्छा से सुन्दर-सा स्थान खोजकर वहाँ एक पर्णकुटी बनाओ।" बस, इतना सुनना था कि लक्ष्मणजी अत्यन्त घबरा गये। वे थर-थर काँपने लगे मुख म्लान हो गया। वे रोते-रोते बोले—"हे रघुनन्दन ! मेरी अपनी इच्छा कहाँ है ? मैंने तो अपना सर्वस्व आपके श्रीचरणों में समर्पित कर दिया है। आज मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध हो गया है, जो आप ऐसे कठोर वचन कह रहे हैं। राघव ! मैं तो पराधीन हूँ। अनन्त

समस्त ऐश्वर्य के स्वामी भगवान् वासुदेव का ही श्रवण कीर्तन और स्मरण करना चाहिये। यही सारातिसार तत्त्व है।"

काल तक मैंने तो आपकी अधीनता स्वीकार कर ली है। मेरी अपनी इच्छा, रह ही नहीं गई। जहाँ आप आज्ञा करें, वहाँ मैं कुटी बना दूँ।"※ रामजी ने साधारण स्वभाव से कह दिया था। जब लक्ष्मणजी ने ऐसा कहा तो वे निरुत्तर हो गये। उनसे कुछ भी इसका उत्तर नहीं दिया गया। इसका कोई उत्तर था भी नहीं। रामजी उसी समय गये और जाकर बताया—"यह बड़ा सुन्दर स्थान है, यहाँ कुटी बनाओ।" तब बताइये, यहाँ मतभेद कैसे हो सकता है? इसी प्रकार पत्नी अपना सर्वस्व पति के चरणों में समर्पित कर दे तो कभी कलह न हो। द्रौपदी, सीता, सावित्री, दमयन्ती इसके अनेकों उदाहरण हैं। शिष्य अपने गुरुदेव को आत्मसमर्पण कर दे तो वह जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर सर्वोत्कृष्ट पद का अधिकारी बन जाता है। महाराज परीक्षित् ने यही किया। उन्होंने अपना सर्वस्व श्रीशुक के पादपद्मों में समर्पित कर दिया। इसीलिये वे पुण्यश्लोक, परम भागवत, प्रातः स्मरणीय और मुनियों के भी वन्दनीय बन गये। बीज जब तक अपने आपे को खोकर धूलि में नहीं मिलता, तब तक अंकुरित होकर पल्लवित, पुष्पित और फलवान् नहीं बन सकता।

महाराज परीक्षित् सच्चे जिज्ञासु थे। सच्चे जिज्ञासु को ही गुरु की प्राप्ति होती है। जो एक विधि पूरी करने को, व्यवहारिक शिष्टाचार को ही पूरा करने को कान फुँकाते हैं, उन्हें वैसे ही व्यवहारिक वृत्ति वाले गुरु भी मिलते हैं। सभी में भावना की प्रधानता है। भगवान् को भी जो जिस भाव से भजते हैं, उन्हें

※ परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयिवर्षशतं स्थिते।
स्वयन्तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मा वद॥
(श्रीवाल्मीकि आर० का० १४ स० ७ श्लोक)

उसी भाव के अनुसार दर्शन होते हैं। श्रीशुक तो सर्वज्ञ थे। वे राजा के भाव को जानकर ही तो उन्मत्तावस्था में होने पर भी उपदेश देने आये थे। उन्हें पाकर महाराज परीक्षित् ने भी उनसे वे ही दो प्रश्न किये। सब प्राणियों का सब समय सर्वोत्कृष्ट कर्त्तव्य क्या है और जो म्रियमाण है–जिसकी मृत्यु सन्निकट आ गई हो–उसे क्या करना चाहिये ? श्रीशुक ने राजा का और राजा के प्रश्न का अभिनन्दन किया। उन्होंने कहा—"राजन् ! यह प्रश्न आपने लोकहित के लिये किया है। अर्थात् तुम्हारा हित तो तभी हो गया जब तुमने अपना सर्वस्व भगवान् वासुदेव के चरणों में तथा उनके अभिन्न रूप श्रीगुरुदेव के चरणों में समर्पित कर दिया। तुम तो कृतार्थ हो चुके। तुम्हारे लिये न कुछ कर्तव्य कर्म रहा न पूछने को कोई प्रश्न ही रहा। ऐसे कृतकृत्य हुए पुरुष भी यदि कोई जप, तप, मन्त्रानुष्ठान, प्रश्न, सम्भाषण तथा और कोई शुभ कार्य करते हैं तो वह अपने लिये न होकर लोक-कल्याण के निमित्त होता है। फिर आपका यह प्रश्न तो समस्त कहने सुनने और विचार करने वाले प्रश्नों में सर्वश्रेष्ठ है। इसकी प्रशंसा तो आत्मज्ञानियों ने भी की है।"

"इतना कहकर शुकदेव ने सर्वप्रथम इसी प्रश्न का उत्तर दिया कि सब प्रणियों का सब समय सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य कौन-सा है ?"

श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन् ! जो विषय-वासना से पृथक् होकर परतत्त्व के जिज्ञासु हैं, उनके लिये तो सुनने योग्य एक ही विषय है और जो विषयासक्त माया जाल में फँसे गृहस्थी हैं, उनके लिये तो सुनने को असंख्यों विषय हैं। उनकी कोई गणना ही नहीं। पैदा होते ही वे शारीरिक सुख चाहते हैं। माता-पिता उन्हें ताड़ना देते हैं। हित की बात बताते हैं, वे उसे न सुनकर खेल-कूद की बात सुनना चाहते हैं। आज मैं उससे चड्डी लूँगा, आज मैं उस खेल में जीत जाऊँ तो अच्छा है, आज साथियों के

साथ दूर बाग में खेलने जायँगे, खूब पके-पके आम खायँगे, इमली तोड़कर लायँगे उसकी चटनी बनावेंगे। गेहूँ चना की रोटी पर मक्खन रखकर मट्ट-मट्ट खायँगे। अम्मा ने जहाँ दही विलोया नहीं कि टटके मक्खन को बासी रोटी पर ल्हेसकर उसके ऊपर पिसा हुआ नमक बुरककर दाँतों से कट्ट-कट्ट कतरकर खायँगे। आज पढ़ने नहीं जायँगे। पिताजी पूँछेंगे तो कह देंगे- मेरे तो सिर में दर्द है। वह अध्यापक बड़ा मारता है। भगवान् करे वह चला जाय। दूसरा कोई ऐसा आवे जो मारे नहीं। इसी प्रकार की हजारों खेल-कूद, सैर सपाटे की बातें बालकपन में सुनने की इच्छा होती है।

"जहाँ कुछ बड़े हुए तो माता-पिता विवाह की चर्चा चलाने लगते हैं, उन बातों की कानों में भनक पड़ते ही हृदय बाँसों उछलने लगता है। सर्वदा उसी विषय को सुनने की अभिलाषा रहती है। कैसी बहू आवेगी। काली या गोरी? लड़ाई-झगड़ा करने वाली आयी तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। गुड़िया की तरह सजी-सजाई, लज्जावती की तरह लजीली, मन के अनुरूप काम करने वाली आवे तभी चित्त सुखी होगा। उस समय सदा सर्वदा बहू के सम्बन्ध की ही भाँति-भाँति से हजारों प्रकार की बातें सुनने को मन चाहता रहता है।

"घर में बहू आ गयी तो अब गृहस्थी की चिन्ता लगी। कैसे धन आवे, कैसे सबसे अधिक भाग्यवान् बनें? यह चिन्ता लगी रहती है। कान हमेशा यही सुनने को उत्सुक रहते है कि तुम्हें वहाँ से इतना धन मिला। वहाँ आपकी वृत्ति लग गई। इतनी भूमि मिल गई। उस व्यापार में इतना लाभ हो गया। वहाँ नौकरी चाकरी ठीक हो गई। इसके साथ-साथ पति-पत्नी की इच्छा पुत्र का मुँह देखने की भी होती है। ज्योतिषियों को जन्म-पत्री दिखाते हैं, स्थानों के भूत प्रेत पुजवाते हैं, वैद्यों से दवा

माँगते हैं। किसी तरह कानों में यह शब्द सुनाई दे जाय कि तुम्हारे घर पुत्र-रत्न का जन्म हुआ है। उस समय धन तथा पुत्र की ही बातें अच्छी लगती हैं।"

"बाल-बच्चे लड़की-लड़के हो गये तो उनको पढ़ाने की, विवाह-शादी की चिन्ता लग जाती है। लड़की सयानी हो गयी है। उस नगर में सुना है, एक अच्छा वर है, वहीं चलो। यहाँ सम्बन्ध ठीक नहीं हुआ, वहाँ हो। उस वर-वधू का जोड़ा-जुटाने की बात सुनने में ही सुख होता है। लड़के-लड़कियों के विवाह भी हो गये। अब उनके भरण-पोषण की चिन्ता। आज घर में अमुक वस्तु नहीं है। गेहूँ मिलते नहीं, गाड़ी टूट गई है, बैल बूढ़े हो गये हैं। घोड़ी की पीठ पर घाव हो गया है। दो दिन से गौ दूध नहीं देती। बड़ो बछिया भाग गई है। खेत में कीड़े लग गये हैं। कुएँ में पानी नहीं रहा। आज चौका बर्तन करने नौकरानी नहीं आयी, वह धीवर का छोकरा नौकरी छोड़कर चला गया। कोई अच्छा सा–नौकर ही नहीं मिलता। संसार स्वार्थी हो गया है। धर्म-कर्म लुप्त हो गये हैं। वे महाशय हमारे रुपये ही नहीं देते। यह महाजन यम के दूतों के वंश के हैं। जब देखो तब खोपड़ी पर चढ़े रहते हैं। जाओ, कह देना–नहीं हैं हमारे पास रुपये। राजा के यहाँ अभियोग चलाओ, देख लेंगे। देखो वे कितने मित्र थे। समय पर उन्होंने ऐसा धोखा दिया? तीन दिन से छोटी बच्ची ने कुछ खाया नहीं। यह बूढ़ा सर्वदा खों-खों करता रहता है। मरता भी नहीं! अब रोज-रोज इतनी दवा कहाँ से लाऊँ? इतनी बड़ी गृहस्थी है। कोई बात पूछता नहीं जिसके पास जाते हैं मुँह फेर लेते हैं। सहानुभूति तो लोगों में रही ही नहीं।

स्त्री कहती है—"लड़की का छूछक देना है। अब लड़की अपने घर की हुई। रोज-रोज छूछक, भात, भाजी, बांइना, बस, यही सब लगा रहता है। उसे तो पता नहीं कैसे पैसा पैदा होता

है। आज उसे धोती देनी है। आज वहाँ साड़ी भेजनी है। अपनी धुनि में लगी रहती है। मेरी बात अनसुनी कर देती है। अरे 'दान वित्त समान'! घर में चूहे फुदक रहे हैं, उसे दान धर्म की ही सूझ रही है। ये पंडित पुरोहित भी बड़े मायाजाली होते हैं। आज व्यतीपात है, आज सन्क्रान्ति है, आज सोमवती है तो आज सङ्कट चौथ है। ३६० दिन और हजार त्योहार, बताओ, कहाँ तक दान धर्म करें? कोई मरे चाहे जीये, इनको सीधा जरूर चाहिये। बच्चों को दूध नहीं उनके लिये खीर बनाती है। कहते हैं तो लोग नास्तिक बताते हैं। नास्तिक ही सही, हमने किसी का कर्जा तो खाया नहीं। ये कथावाचक न जाने कहाँ की अण्ट-सण्ट हाँकते रहते हैं। न किसी का सिर न पैर। ऐसी कथा तो भैया! मुझे अच्छी नहीं लगती। देखो, वहाँ कैसा नाच-गाना हुआ था। व्याख्यानदाता ने कैसा व्याख्यान दिया। हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।"

"सो राजन्! ये संसारी तो इन्हीं के चक्करों में सदा पड़े रहते हैं। एक बात हो तो बतावें। हजारों, लाखों, करोड़ों बातें ये रोज सुनते हैं, सोचते हैं। रात्रि का समय तो इन लोगों का विषय भोग तथा निद्रा में बीतता है और दिन भर यह ला, वह ला, यह रख, वह उठा। आज इतने रुपये आये, इतने खर्च हुए। आज लड़के का विवाह, कल लड़की की शादी, परसों लड़की के लड़के का छूछक, किसी का नामकरण, किसी का चूड़ाकर्म इन्हीं सब में, धूमधाम की बातों में समय बीतता है। इन मूर्खों को यह नहीं सूझता कि लोग रोज मरते हैं। हमारे घर में ही जब से पैदा हुए, कितने लोग मर गये। एक दिन हमें भी मरना है। जिन स्त्री पुरुषों में इतनी आसक्ति है। एक दिन या तो हमें ही इन्हें छोड़कर चला जाना पड़ेगा या ये ही हमारे सामने चल बसेंगे। जिस धन को नाना उपायों से एकत्रित किया है, यह

सङ्ग न जायगा। यह धन जिसके पास से आया है, जब उसी के पास नहीं रहा तो हमारे पास क्या रहेगा? जिस देह को इतनी सावधानी से पालते-पोसते हैं, जिसे मोटा बनाने को नाना पाप कर्म करते हैं-यह यहाँ की यहीं पड़ी रह जायगी। या तो इसकी भस्म हो जायगी, या कीड़े पड़ जायँगे अथवा पशु-पक्षी खाकर विष्ठा बना देंगे। इसलिये राजन्! जिन्हें अभय पद की इच्छा हो, जो संसार के भयों से निर्भय बनने के अभिलाषी हों, उन्हें तो सब कुछ त्यागकर सदा सर्वदा, सर्वत्र, सर्वेश्वर श्यामसुन्दर के ही नाम और गुणों का श्रवण कीर्तन और स्मरण करते रहना चाहिये।"

"संसार में सभी मनीषियों ने, ज्ञानी, ध्यानी, विरक्त और सभी शास्त्रकारों ने मनुष्य जीवन का यही एकमात्र परम पुरुषार्थ बताया है कि अन्तकाल में जिस किसी प्रकार भी भगवान् का स्मरण बना रहे। यदि स्वधर्म का आचरण करने पर उससे अन्त में भगवत्-स्मृति न हो तो वह दम्भ है। योग साधन से अन्त में योगेश्वर का स्मरण न हो सके तो वह योग कपट योग है। सांख्य शास्त्र का निरन्तर विचार करते रहने पर भी अन्त में भी ब्रह्म साक्षात्कार न हो तो वह एक व्यसन मात्र है। इसलिये गोविन्द के गुण गान में रमण करते रहना ही मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है।"

इस पर राजा ने पूछा—"प्रभो! जो महात्मा त्रिगुणातीत हो गये हैं-जिनके लिये कोई भी विधि निषेध की मर्यादा नहीं रही है-ऐसे ज्ञानी पुरुषों के लिये भी कथा श्रवण, भगवन्नाम कीर्तन की आवश्यकता शेष रह जाती है क्या?"

इस पर शुकदेवजी ने कहा—"जो त्रिगुणातीत हो गया जिसके लिये कर्तव्याकर्तव्य कुछ रहा नहीं, उसके लिये यह कैसे कहा जा सकता है कि उसे यह करना ही चाहिये। किन्तु प्रायः

देखा गया है कि ऐसे ज्ञानी, ध्यानी, विरक्त और स्थितप्रज्ञ पुरुष भी हरिगुण गान, कृष्ण कथा कीर्तन में सदा निरत रहते हैं। कर्तव्य बुद्धि से नहीं, भगवान् के गुणों में माधुर्य ही ऐसा है कि वे त्रिगुणातीत होने पर भी स्वभाववश उन्हीं में निमग्न रहते हैं। उन्हें यदि छोड़ दें तो और करें भी क्या? बिना कुछ किये तो यह शरीर एक क्षण भी नहीं रह सकता। इसीलिये मैं अब तुम्हे श्रीमद्भागवत की कथा सुनाता हूँ।"

इस पर महाराज परीक्षित् बोले—"महाराजजी! आप जो यह श्रीमद्भागवत संहिता सुनाने को कह रहे हैं। यह जैसे ये १८ पुराण हैं, उसी प्रकार एक पुराण है या इसमें कुछ विशेषता है? आपने यह सात्वत संहिता कब सुनी, कहाँ सुनी और किससे सुनी?"

महाराज के प्रश्न सुनकर श्रीशुक उनका उत्तर देने लगे—"राजन्! यह भागवत शास्त्र केवल पुराणमात्र ही नहीं। वेदों के समान ही यह माननीय और आदरणीय है। द्वापर के अन्त में गन्धमादन पर्वत पर अपने पिताजी श्रीवेदव्यासजी के आश्रम पर उन्हीं के द्वारा मैंने यह सर्वश्रेष्ठ संहिता बड़े परिश्रम से पढ़ी थी।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित्जी ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से पूछा—"प्रभो! हम तो सदा से यही सुनते आये हैं कि आप तो जन्म के ही त्यागी विरागी हैं। आप बिना उपनयन संस्कार कराये उत्पन्न होते ही अरण्य की ओर चले गये थे। आपकी तो सदा निर्गुण ब्रह्म में निष्ठा रहती है फिर आपको भी इस इतने बड़े भक्ति शास्त्र के ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता क्यों पड़ी? आप किस विधिवाक्य से प्रेरित होकर इसके पठन-पाठन में प्रवृत्त हो गये? कृपा करके मेरी इस शङ्का का समाधान कीजिये।"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी हँस पड़े और बोले—"राजन्! मैं तो विधि निषेध से परे हूँ। मैंने किसी विधि वाक्य के अधीन होकर इसका अध्ययन नहीं किया। यह भी सत्य है कि मैं सदा निर्गुण ब्रह्म में ही लीन रहता हूँ। फिर भी भगवान् की लीलाओं में इतना माधुर्य है कि मैं विवश होकर इनकी ओर खिंच गया। अपने पिता भगवान् व्यासदेव के शिष्यों के मुख से भगवान् के अनुपम सौन्दर्य माधुर्य का वर्णन सुनकर, उनकी अहैतुकी कृपा की महिमा सुनकर, मेरा मन स्वतः ही इन लीलाओं के श्रवण तथा पठन की ओर आकृष्ट हुआ और बिना पढ़े सुने मुझसे रहा ही न गया। पढ़कर मैं आनन्दसागर में मग्न होकर इधर-उधर अलक्षित भाव से घूमता रहता हूँ। आज अवसर समझकर स्वतः ही तुम्हारे समीप आ गया हूँ। उसी भागवत शास्त्र को आज मैं तुम्हें सुनाऊँगा। क्योंकि तुम ही एकमात्र मुझे उसके उत्तम अधिकारी दिखाई दिये। तुम पर पुरुषार्थ की दीक्षा लेना चाहते हो। तुम में सामर्थ्य भी है श्रवण करने की उत्कण्ठा अभिलाषा भी है। तुम से दृढ़ता के साथ, प्रतिज्ञापूर्वक यह बात कहता हूँ कि जो भी पुरुष इस कथा को श्रद्धापूर्वक सुनेगा और सुनकर भक्तिपूर्वक इसका मनन करेगा, उसको अत्यन्त शीघ्र ही भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में अहैतुकी, अनन्य प्रेम वाली–भक्ति उत्पन्न होगी। उसकी मति मनमोहन की माधुरी में फँस जायगी।

"मैं अपने अनुभव से, इस बात को बलपूर्वक कहता हूँ कि जिन पुरुषों को संसार के इहलोक तथा परलोक के सभी संसारी तथा दिव्य भोगों से अत्यन्त वैराग्य भी हो, किन्तु वे अभय पद के इच्छुक हों तो उन योगियों को भी भगवन्नाम संकीर्तन करना ही चाहिये। निरन्तर भगवान् की कथा का श्रवण करना, सदा भगवन्नामों का मन से अथवा वाणी से कीर्तन करते

रहना–इससे बढ़कर कोई भी श्रेष्ठ कार्य, कोई उत्तमोत्तम साधन नहीं। राजन्! यही परम पुरुषार्थ है। यही अन्तिम साध्य है। यही चरम स्थिति है। जिन्होंने अपना मन कथा कीर्तन में लगा लिया वे धन्य हो गये, कृतार्थ हो गये, उनके लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह गया। यही सभी मनुष्यों के लिये सर्वदा सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे हैं—"ऋषियो! इस प्रकार मेरे गुरुदेव महाराज परीक्षित् से दृढ़ता के साथ यह कहकर चुप हो गये। राजा अत्यन्त विस्मय के साथ उनके श्रीमुख को निहारते रहे। अब वे अपने प्रश्न के दूसरे भाग का उत्तर सुनने की जिज्ञासा प्रकट करने लगे कि जिसकी मृत्यु अत्यन्त सन्निकट है, उसके लिये क्या कर्तव्य है?"

छप्पय

है प्रपञ्च बहु विषय भोग महँ फँसे नरनकूँ।
हरि लीलातें सुखद और अवलम्ब न मनकूँ॥
आकर्षति अति भयो रूप हरि लीला सुनि कें।
भूल्यो निर्गुन ब्रह्म सगुन के गुनकूँ गुनि कें॥
भव्य भागवत भूपवर! तुमहिँ सुनावहुँ सरस अति।
सुनत श्याम पद कमल महँ, होहि तुरन्त अनन्य मति॥

—०—

समय की न्यूनता पर राजर्षि खट्वाङ्ग का दृष्टान्त

[८६]

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः ।
मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ॥
तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः ।
उपकल्पय तत्सर्वं तावद्यत्साम्परायिकम् ॥*

(श्री० भा० २ स्क० १ अ० १३, १४ श्लो०)

छप्पय

अल्पकाल की कछू आप चिन्ता नहिँ करिहैं ।
सात दिवस तो बहुत कथा सुनि छिनमहँ तरिहैं ॥
एक मुहूर्तहि माँहि तरे खट्वाङ्ग विरागी ।
शेष आयु सप्ताह आपु तो सरबसु त्यागी ॥
अन्तकालकूँ निकट लखि, गृह देह ममता तजहिँ ।
ते ध्रुव पावहिँ परम पद, जे सब तजि प्रभुपद भजहिँ ॥

---

* महामुनि शुकदेवजी कहने लगे—"देखिये, राजन् ! पूर्वकाल में राजर्षि खट्वाङ्ग को जब पता चला कि मेरी आयु का अन्त आ गया है तो वे एक मूहूर्त में ही सर्वस्व त्यागकर श्रीहरि के निर्भय पद को प्राप्त हो गये । फिर आप की तो अभी सात दिन की अवधि शेष है । इसलिये हे कुरुकुल तिलक, आप इसी बीच में अपने परलोक सुधार का उपाय कर लें ।"

बातें तो सभी सुनते हैं, किन्तु उन पर विश्वास होने से ही सिद्धि मिलती है। मन्त्र में, अनुष्ठान में, औषधि में, शुभ कर्मों में भावना को ही प्रधान माना गया है। अपने साधन पर जिसे पूर्ण विश्वास हो वही दूसरों का कल्याण कर सकता है। जो स्वयं तो उस पर विश्वास नहीं रखता, उसका आचरण नहीं करता और दूसरों से उसे करने को कहता है तो उसके कहने का कुछ भी प्रभाव नहीं। वह अरण्य रोदन की भाँति, यन्त्र में गाये गीत के समान प्रभाव हीन होता है। शुकदेवजी को अपने साधन पर विश्वास था। उनकी दृढ़ धारणा थी कि जो कोई इस भागवत शास्त्र को सुनेगा, उसकी अवश्य ही मुक्ति हो जायगी। इसीलिये उन्होंने महाराज को उसका अधिकारी समझकर स्वतः ही सुनाने के लिये प्रस्ताव किया। महाराज परीक्षित् ने सोचा—"ये कहीं कथा ही सुनने में लग गये और मैं उसी में फँसा रहा, कोई उच्च पारमार्थिक साधन न कर सका तब तो मेरी मुक्ति में सन्देह ही है। समय बहुत न्यून है। ये महाराज मुझे भागवत सुनाने को कह रहे हैं यही सब सोचकर वे बोले—"प्रभो ! समय की न्यूनता देखकर ही मुझे सर्वोत्तम उपदेश दें। वैसे तो सभी का समय सात दिन के अन्तर्गत है। सात दिनों में से किसी दिन जीव मृत्यु को प्राप्त हो सकता है, किन्तु मेरे यथार्थ इने-गिने सात ही दिन शेष हैं।"

इस बात को सुनकर शुकदेवजी मुस्कुराये और बोले—"राजन् ! संसार में बहुत से विषयासक्त पुरुष चिरकाल तक जीवित रहते हैं। उनके जीवन से क्या लाभ ? दिन हुआ हाय-हाय में लग गये। बहुत से शुद्ध अन्न-जल को मल-मूत्र बना दिया। शूकर, कूकर की तरह व्यर्थ बच्चे पैदा कर दिये, जिनका भली प्रकार भरण-पोषण भी नहीं कर सकते। दिन भर झूठ सच बोलकर, लोगों को ठगकर, पेट भर दिया, रात्रि में तान दुपट्टा

सो गये। युवा हुए, बुढ़ापा आया, मर गये। वृक्ष भी बहुत दिनों तक जीते हैं। सुनते हैं कौए को जब तक कोई मार न दे तब तक स्वतः मरता ही नहीं। उठते ही उसे कलेवा की चिन्ता होती है। एक आँख से सब देखता है। जिस जीवन में साधन भजन नहीं, कथा-वार्ता नहीं, रात्रि दिन पेट की ही चिन्ता, विषयों का भजन ऐसे लोग चाहें दस वर्ष जीवें चाहे सौ वर्ष, उन्हें तो वही आहार, निद्रा, भय और मैथुन में समय काटना है। किन्तु जिन्होंने मनुष्य तन का यथार्थ कर्तव्य समझ लिया है, विषय भोगों को अनित्य, नाशवान, क्षणभंगुर और संसार में फँसाने वाले समझकर उनका परित्याग करके श्रीहरि के चरणों में चित्त लगा लिया है, उनके लिये एक मुहूर्त का जीवन बहुत है। उसी में अपना कल्याण कर सकते हैं। इस विषय का आपको मैं एक अत्यन्त ही सुन्दर उपाख्यान सुनाता हूँ। आप इसे सावधान होकर सुनें।

"सूर्यवंश में एक परम प्रतापी खटवाङ्ग नाम के राजर्षि हो गये हैं। वे भारी शूरवीर, 'दानी' यशस्वी और धर्म परायण भूपति थे। पृथ्वी पर उनके समान धनुर्धर और बली उस समय और कोई नहीं था। एक समय दैत्य-दानवों ने देवताओं पर चढ़ाई की। देवताओं का पक्ष निर्बल पड़ रहा था, दैत्य-दानव प्रबल हो गये थे। अतः देवता बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने मर्त्यलोक में आकर महाराज खट्वाङ्ग से प्रार्थना की कि आप हमारी ओर से दैत्यों से युद्ध करें। राजा तो सदा युद्ध के लिये लालायित ही बने रहते थे। तुरन्त ही उन्होंने अपना धनुष बाण उठाया और दिव्य रथ पर बैठकर देवताओं के साथ युद्धस्थल में पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने असुरों से ऐसा घनघोर युद्ध किया कि सभी के छक्के छूट गये। महाराज के बाणों के प्रहारों से व्यथित होकर सभी दैत्य-दानव असुर रण छोड़कर दशों दिशाओं में भाग गये। युद्ध छोड़कर भागते हुए शत्रुओं का पीछा करना धर्म के विरुद्ध

है, यह समझकर राजा ने उनका पीछा नहीं किया, उन्हें छोड़ दिया इस बात से समस्त देवता तथा देवराज महाराज खट्वाङ्ग के ऊपर परम प्रसन्न हुए और उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"राजन् ! आपके समान शूरवीर संसार में दूसरा नहीं है। आपने इस घोर सङ्कट से हम सबकी रक्षा की। हम आप पर अत्यन्त प्रसन्न हैं, अतः आप हमसे जो भी वरदान माँगना चाहें माँग लें।"

महाराज खट्वाङ्ग ने कहा—"देवताओ ! आप सब देवलोक में रहने वाले, दिव्य भोगों को भोगने वाले, परम पुण्यात्मा हैं। यज्ञ-याग आदि समस्त शुभ कर्म आपकी प्रसन्नता के ही निमित्त किये जाते हैं। ऐसे आप मुझ पर प्रसन्न हैं ? इससे बढ़कर मेरे लिये अन्य वरदान क्या होगा ? आप सबकी प्रसन्नता ही मेरे लिये पर्याप्त है।"

इस पर आग्रह करते हुए देवताओं ने कहा—"नहीं महाराज ! कुछ तो माँगिये ही। हम आपका कुछ प्रत्युपकार अवश्य करना चाहते हैं।"

देवताओं के अत्यन्त आग्रह को देखकर महाराज बहुत सोच समझकर उनसे बोले—"देवताओ और देवराज ! सर्वप्रथम मैं यह जानना चाहता हूँ कि मेरी आयु कितनी शेष है। अपनी आयु की अवधि जानकर ही मैं आपसे कुछ वरदान माँगने का विचार करूँगा।"

यह सुनकर देवराज बोले—"राजन् ! आपकी आयु तो समाप्त हो चुकी, अब एक मुहूर्त भर ही और शेष है।"

इतना सुनते ही राजर्षि खट्वाङ्ग सावधान हो गये। उन्होंने कहा—"देवताओ ! अब मुझे कुछ भी नहीं माँगना है। मैंने इस लोक के तथा परलोक के सभी भोगों को तुच्छ समझ लिया है। मैं अब इन विषयों में न फँसूँगा, किसी इन्द्रिय सुख की याचना

न करूँगा। मैं तो भगवान् के उस परमधाम को प्राप्त करना चाहता हूँ, जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता, जहाँ जाकर सभी दुःखों का अत्यन्ताभाव हो जाता है।" इतना कहकर महाराज भगवान् के ध्यान में मग्न हो गये और एक मुहूर्त में ही समस्त विषय भोगों की अभिलाषा को मन से त्यागकर श्रीहरि के निर्भय पद को प्राप्त हो गये। सो, राजन्! अभी आपके तो सात दिन हैं सात दिन में ही आप अपने उद्धार का उपाय कर लें। इसी बीच में परमपद की प्राप्ति के अधिकारी बन जायँ।"

श्रीशुक के ऐसे सान्त्वनापूर्ण वचन सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने संक्षेप में सर्व साधारण पुरुषों के लिये सर्वकाल में सर्वदा श्री भगवन्नाम गुण कीर्तन को करते रहने का उपदेश दिया। अब मैं इस बात को सुनना चाहता हूँ कि जिसकी मृत्यु अत्यन्त निकट आ गई हो, उसे क्या करना चाहिये? उसके कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन करें।"

महाराज परीक्षित् के प्रश्नों को सुनकर श्रीशुक कहने लगे—"राजन्! जब पुरुष को यह ज्ञात हो जाय कि अब मेरी मृत्यु सन्निकट है तो सर्वप्रथम तो उसे अपने शरीर के मोह को तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाले घरबार, स्त्री, परिवार, धन-धान्य आदि सभी के मोह का परित्याग कर देना चाहिये। वैराग्य रूपी खड्ग से मोहरूपी सुदृढ़ जाल को काटना चाहिये। सबसे मोह हटाकर, परिवार वालों की ममता त्यागकर, घर से निकल पड़ना चाहिये और किसी पुण्यतीर्थ में गङ्गा आदि पुण्य सरिताओं के समीप-अपना आसन लगाना चाहिये।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"ब्रह्मन्! यदि घर में ही रहकर भगवान् में चित्त लगावे तो क्या हानि है?"

श्रीशुक बोले—"हानि तो कुछ नहीं है। भगवान् का ध्यान जहाँ भी किया जाय, वहीं श्रेयस्कर है। किन्तु हर समय आँखों

के सामने सम्बन्धियों तथा परिवार वाले पुरुषों के रहने से स्वाभावानुसार मोह हो ही जाता है। यदि मरते समय भूल से भी परिवार वालों में चित्त चला गया तो फिर उन्हीं में आकर जन्म लेना पड़ेगा। "अन्ते या मतिः सा गतिः" इसलिये सर्वश्रेष्ठ यही है कि जब इन परिवार वालों से विवश होकर पृथक् होना ही है, तो स्वेच्छा से पहिले ही–मृत्यु के पूर्व ही–उनका परित्याग क्यों न कर दे। पुण्य क्षेत्रों में स्वभाव से ही शुभ संस्कार रहते हैं। अनन्त काल से असंख्यों पुरुषों की उनके प्रति विशुद्ध भावना होने से, वहाँ का वायु मंडल सत्संस्कार वाला विशुद्ध बना रहता है। सभी बड़े-बड़े लोगों ने अन्त समय प्रयाग जैसे पुण्य क्षेत्रों का, गंगा जैसी पावन सरिताओं का आश्रय लिया है। देखिए, आप ही अपना समस्त राज्य वैभव त्यागकर अन्त में गंगा किनारे बैठे हैं। आपसे किसी ने कहा थोड़े ही है ? आपके पूर्वजों ने जैसा किया आपने भी उनका अनुकरण किया।"

"अच्छा, तो जब घर छोड़कर पुण्यतीर्थ में आ जाय तो वहाँ पहिले तो विधिवत् स्नान करके जैसा शास्त्रों में बताया है कुश का आसन बिछावे, उसके ऊपर काला मृग चर्म और काले मृग चर्म के ऊपर वस्त्र। मृगछाला के ऊपर जब तक वस्त्र न बिछाया जाय, वह बैठने योग्य नहीं मानी जाती। इस प्रकार आसन बिछाकर उस पर सिद्धासन, पद्मासन या स्वस्तिक आसन से बैठ जाय। फिर प्रणव का या उसी के नामान्तर भगवन्नाम का जप करे, प्राणवायु का दमन करे किन्तु अक्षर ब्रह्म का विस्मरण न होने दे।" इतना कहकर राजा के पूछने पर श्रीशुक ने उन्हें ध्यान की विधि बतायी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस समय तो मैं कथा भाग का वर्णन कर रहा हूँ। श्रीशुक ने महाराज परीक्षित् के सम्मुख भगवान् के ध्यान का जैसा प्रभावोत्पादक सजीव वर्णन किया है,

उसे मैं प्रसङ्गानुसार आप लोगों के सम्मुख फिर वर्णन करूँगा। इस समय तो आप इसी कथा प्रवाह को चलने दें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! जैसी आपकी इच्छा ! हम सब तो सुनने की इच्छा से आपके सम्मुख बैठे हैं। आप जैसे भी उचित समझें वैसे ही सुनावें।"

सूतजी बोले—"मुनियो ! यही मुझे उचित जान पड़ता है कि पहिले कथा भाग सुनकर, तब ध्यान की तथा भक्ति की सब बातों को क्रम से फिर बताऊँगा।"

इतना कहकर सूतजी आगे का प्रसंग कहने को ज्यों ही उद्यत हुए, त्यों ही शौनकजी कुछ कहने लगे, इससे सूतजी रुक गये।

छप्पय

जीवन धन बिनु जीवन जीवन नहीं कहावै।
भक्ति हीन नर मृतक सरिस ह्वै काल बितावै॥
खावें सोवें लड़ें बृद्ध बनि यमपुर जावें।
बार बार ते जनमि जगत में जावें आवें॥
कोटि कल्प को काल हू, भक्ति बिना निस्सार है।
छिन भरि हरि हियमहँ बसैं, सोइ समय सुखसार है॥

—०—

भागवती कथा का पुनीत प्रश्न

[८७]

अथाभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलम्
प्रभाषसे भागवतप्रधानः ॥
यदाह वैयासकिरात्मविद्या-
विशारदो नृपतिं साधु पृष्टः ॥*
(श्री० भ० २ स्क० ३ अ० २५ श्लोक)

छप्पय

सूत ! सुनाओ सुखद परीक्षित शुक प्रश्नोत्तर ।
जहाँ सन्त जन मिलहिँ तहाँ सम्वाद होय वर ॥
गङ्ग यमुन मिलि हरैं महापातक हू भारी ।
तैसे ही शुक विष्णु-रात बार्ता अघहारी ॥
केवल कृष्ण कथा सदा, श्रवननिकूँ श्रवनीय हैं ।
करैं कृष्ण कैंकर्यकूँ, ते ही कर कमनीय हैं ॥

जिनको जो वस्तु अत्यन्त प्रिय होती है, उसका निरन्तर सेवन करने से भी उनकी तृप्ति नहीं होती। ऐसा न होता तो

---

*शौनकजी, सूतजी से कह रहे हैं—"हे अङ्ग ! आप जो भागवत कथा कह रहे हैं वह हमारे मन के सर्वथा अनुकूल है। अब हमें आप वह बात सुनाइये, जो महाराज परीक्षित् के पूछने पर समस्त भगवद्भक्तों में प्रधान आत्म-विद्या में विशारद व्यासनन्दन भगवान् शुक ने उनके प्रति कही थी।"

मादक वस्तुओं के व्यसनी नित्य एक ही वस्तु का इतनी व्यग्रता से क्यों सेवन करते ? जिसे जो शाक, जो मिठाई, जो चरपरी चीज जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय हैं, उन्हें वह नित्य खाता है, फिर भी उसकी इच्छा बनी ही रहती है। ऐसा न होता तो वृद्धावस्था में सभी इन्द्रियों के शिथिल हो जाने पर सभी प्राणी विरागी बन जाते। किन्तु जगत में ऐसा देखा नहीं गया है। पदार्थों के भोग की सामर्थ्य न रहने पर भी अन्त तक उनमें तृष्णा बनी ही रहती है। जिसे एक बार जिस वस्तु का स्वाद मिल गया है और मन उस स्वाद में रम गया है, उसका जब भी प्रसंग आता है, तभी शरीर में फुरहरी-सी आ जाती है और उसे उपभोग करने की हठात् इच्छा हो उठती है। जब इन अनित्य, असुखकर, क्षण-भंगुर पदार्थों में इतनी आसक्ति हो जाती है तो जो श्रीहरि नित्य हैं, शाश्वत हैं, जिनकी लीलाओं में, कर्मों में, गुणों में, अत्यन्त माधुर्य है, अपूर्व रस है, उस रस का जिन्हें एक बार स्वाद मिल गया है, वे उन्हें फिर कैसे छोड़ सकते हैं। जिसे अच्युत भगवान् की अमल-विमल, निर्मल कथाओं के अमल का अभ्ययास हो गया है वह इन संसारी अमलियों-मादक द्रव्य सेवियों-के सदृश सदा श्रीकृष्ण-कथा रूपी अमल के लिये व्यग्र बना रहता है। जिस दिन उसे श्री कृष्ण-कथा सुनने को न मिले, उस दिन को वह व्यर्थ समझता है। जिस प्रकार पदार्थ एक ही हैं, किन्तु नित्य की तृष्णा और वासना के कारण उनमें नित्य ही नूतन स्वाद प्रतीत होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण कथायें एक होने पर भी नित्य सुनते-सुनते भक्तों की तृप्ति नहीं होती। वे ही अवतार, वे ही चरित, वे ही लीलायें, सब वेद, पुराण, इतिहास धर्म-शास्त्रों में घुमा फिराकर वे ही बातें हैं, फिर भी न जाने क्यों ये भगवत् भक्त उन्हें सुनकर अघाते ही नहीं। यही सब सोच कर श्रीशुक ने पहिले तो महाराज परीक्षित् को सर्वकाल में सभी

मनुष्यों का क्या कर्तव्य है–यह बात बताई। इसके अनन्तर म्रियमाण पुरुष को वैराग्य धारण करके किस प्रकार गृह त्याग-कर तीर्थ क्षेत्र में जाना चाहिये और वहाँ कैसे रहना चाहिये, इसका निरूपण किया फिर भगवान् के ध्यान की विधि और भगवान् के विराट् रूप का वर्णन किया। फिर सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति का कथन किया। इसके अनन्तर भिन्न-भिन्न कामनाओं से भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना का वर्णन करते हुए भगवत् भक्ति की प्रधानता बतलाई और सबसे अन्त में कह दिया—"जिस कृष्ण-कथा के श्रवण करने से सत्व, रज और तमोगुण के कारण उठी हुई अनन्त तरंगें स्वतः ही शान्त हो जाती हैं, जिनके श्रवण करने से अध्यात्म प्रसाद की उपलब्धि होकर मनुष्य गुणातीत बन जाता है। जिनके श्रवण से कैवल्य मोक्ष तथा भगवत् भक्ति की प्राप्ति होती है, उन कमनीय कृष्ण कथाओं को कौन ऐसा क्रूर पुरुष होगा, जो श्रद्धा भक्ति के साथ श्रवण न करे।"

इसे सुनकर शौनकजी पूछने लगे—"महाभाग, सूतजी! अब आप शीघ्रता के साथ बतलायें कि जब शुकदेवजी ने यह सब सुनाया तो फिर महाराज परीक्षित् ने क्या प्रश्न किया? उसका श्रीशुकदेव ने किस प्रकार उत्तर दिया? उन दोनों में जो प्रश्नोत्तर हुए हों, उन सबको आप हमें अनुपूर्वक सुनावें। उन दोनों के सम्वाद सुनने की हमें बड़ी चटपटी लगी हुई है। अब आप देर न करें, हमारी उत्सुकता को और अधिक न बढ़ावें।"

सूतजी बोले—"मुनिश्रेष्ठ! आपकी उत्सुकता से मुझे प्रसन्नता भी हो रही है आश्चर्य भी हो रहा है। प्रसन्नता तो इसलिये कि आपको मेरा कथन प्रिय लग रहा है और आश्चर्य इसलिये कि बिना ही सुने आप कैसे समझ गये कि इन दोनों का सम्वाद सर्वश्रेष्ठ परमोत्तम ही होगा?"

इस बात को सुनकर शौनकजी हँसे और बोले—"अजी सूतजी! और कोई कहे तो कहे भी, ऐसी भूली-भूली-सी बातें आप कर रहे हैं? कस्तूरी कहने से थोड़े ही बतायी जाती है? गुणी लोग गन्ध पाते ही समझ जाते हैं। कपूर की सुगन्ध ही उसके अस्तित्व को बता देती है। ऊख को पेरते देखकर बिना चखे ही लोग समझ जाते हैं, इससे मीठा रस ही निकलेगा। इसी प्रकार जहाँ दो सज्जन एकत्रित हों, वहाँ निश्चय ही भागवतीय कथायें ही होंगी। सज्जन लोगों की जिह्वा पर दूसरी बात आती ही नहीं। जैसे अंगूर की बेल में सदा अंगूर ही लगेंगे। गौ के स्तनों में-से सदा दूध ही निकलेगा, गंगाजी में कभी भी कैसे भी स्नान करो, पाप ही कटेंगे। भगवन्नाम को कभी भी किसी भी दशा में कैसे भी लो, उससे कल्याण ही होगा, कभी भी अकल्याण न होगा। जैसे इन सबका नैसर्गिक स्वभाव है, उसी प्रकार सज्जनों का भक्त और भगवान् के सम्बन्ध में चर्चा करना भी नैसर्गिक स्वभाव है। हमने महाराज परीक्षित् को भी देखा है और श्री शुकदेवजी के सम्बन्ध में भी तुम्हारे पिता से तथा अन्य ऋषियों से बातें सुनी हैं।

"जब कभी हम हस्तिनापुर में जाते थे तो महाराज युधिष्ठिर शीघ्रता से परीक्षित्जी को बुलाकर हमें प्रणाम कराया करते थे। तब वे बहुत छोटे बच्चे ही थे। हमने देखा उस समय भी वे खेल में श्रीकृष्ण लीलाओं का ही अनुकरण किया करते थे। जिह्वा से भगवन्नामों का ही कीर्तन करते। बहुत से बालकों को बुला लेते किसी को गोप बनाते, किसी को गौएँ बनाते और स्वयं श्रीकृष्ण बनकर गौएँ चराने जाते। कभी गोवर्धन धारण लीला का अनुकरण करते, कभी वन भोजन का खेल खेलते। इस प्रकार खेल-खेल में ही वे सम्पूर्ण श्रीकृष्ण लीलाओं का अनुकरण स्वयं करते और अपने साथी बालकों से भी कराते। श्री

शुकदेवजी के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। वे तो जन्म होते ही जंगल को भाग गये। उनके त्याग वैराग्य की बातें सुनकर तो हमें अपने ऊपर ग्लानि होती है। सोचते हैं—"एक हम भी मुनि कहलाते हैं जो इतना प्रपन्च बाँधे हुए हैं। एक वे भी मुनिवंशावतंस परमहंस शिरोमणि मुनि तनय हैं जो लँगोटी भी नहीं रखते। कभी किसी एक वृक्ष के नीचे दूसरे दिन शयन भी नहीं करते। जहाँ ऐसे दो परम भागवत एकत्रित हुए हों, वहाँ तो अवश्य ही हरि कथा रूपी सुरसरि की निर्मल धारा बही होगी। हम लोग उसी कथा को सुनने को इतने उत्सुक हैं।"

सूतजी ने नम्रता के साथ कहा—"मुनियो! आप बार-बार श्रीकृष्ण-कथा का ही प्रश्न क्यों करते हैं? इसी पर इतना बल क्यों देते हैं? कुछ सामाजिक प्रश्न पूछिये? राजनैतिक चर्चा कीजिये। सरस साहित्य की लच्छेदार बातें हों, कुछ इधर-उधर की हलचलों का समाचार पूछें। बार-बार वही बात! आपका एक ही विषय की बातें सुनते-सुनते मन नहीं ऊबता है?"

इस पर आश्चर्य चकित होकर शौनकजी बोले—"सूतजी! आप हमारी परीक्षा ले रहे हैं क्या? अजी, यदि हमें यही सब करना होता तो घर-बार छोड़कर यहाँ नैमिषारण्य में आकर क्यों रहते? यदि जीवन की सार्थकता इधर-उधर व्यर्थ विषय सम्बन्धी बातों में ही समय बिताने में होती तो बड़े-बड़े राजर्षि, महर्षि समस्त विषयों से मुख मोड़कर एकान्त में घोर तपस्या क्यों करते? जीवन की सार्थकता तो निरन्तर श्रीकृष्ण-कथा सुनते रहने में ही है। जिसका समय भगवान् उत्तमश्लोक के गुणगान में व्यतीत होता है, उन्हीं की तो आयु सार्थक है, शेष सब तो अपने दिन काट रहे हैं। सूर्य भगवान् प्रातः उदयाचल में से उदय होते हैं। शनैः-शनैः अस्ताचल में जाकर अस्त हो जाते हैं, श्रीकृष्ण विमुख पुरुषों की आयु में से एक दिन का

समय व्यर्थ नष्ट कर देते हैं। इसलिये हम अपने समय को सार्थक बनाने के ही निमित्त आपसे सर्वदा श्रीकृष्ण-चरित्र सम्बन्धी प्रश्न पूछते हैं।"

सूतजी ने विनम्रता के साथ कहा—"ब्रह्मन्! मैं आपकी परीक्षा भला क्या ले सकता हूँ? इसी बहाने मैं आपके मुख से कथा माहात्म्य सुन लेता हूँ, इसलिये ऐसे प्रश्न पूछ लेता हूँ। आप मेरी अशिष्टता को क्षमा करें। अब मैं समझ गया कि मनुष्य का जीवन तभी सार्थक है जब वह अपने समय को कथा-कीर्तन आदि में बितावे। आठों पहर खाने-पीने की ही चिन्ता में फँसे रहने वालों को तो सदा हाय-हाय ही बनी रहती है उन्हें आन्तरिक शान्ति तो प्राप्त होती ही नहीं।"

शौनकजी शीघ्रता के साथ बोले—"नहीं सूतजी! अशिष्टता की कोई बात नहीं। आप ही सोचें जीवन किसे कहते हैं? क्या पैदा होना, बढ़ना, अपने समान और संतति पैदा करना, दुखी-सुखी होना और मर जाना इसी का नाम जीवन है। यदि इसे ही जीवन कहें तब तो ये सब बातें वृक्षों में भी होती हैं। वृक्ष पैदा होते हैं, बढ़ते हैं, अपने समान अनेकों वृक्षों को अपने बीजों से पैदा करते हैं, दुखी-सुखी भी होते हैं, बुड्ढे भी होते हैं और मरते भी हैं। मनुष्य जीवन पाकर जो इन्हीं सब में लगा रहा, भगवत् चिन्तन में चित्त नहीं दिया तो उनमें और वृक्षों में क्या अन्तर है?"

थोड़ी देर सोचकर सूतजी बोले—"महाराज! अन्तर तो दिखाई देता नहीं। मुझे तो स्वर्थी लोगों की आपेक्षा ये वृक्ष श्रेष्ठ दिखाई देते हैं। इनके पत्ते, फल, फूल काम में आते हैं। सूखने पर लकड़ी से भाँति-भाँति की वस्तुएँ बनती हैं। छाल, बक्कल, राख इनकी कोई भी वस्तु व्यर्थ नहीं जाती। सभी से तो प्राणियों का उपकार होता है। मनुष्य की तो मर कर खाल भी

किसी काम में नहीं आती, वह या तो जल जाती है या सड़ जाती है। इतना ही अन्तर दीखता है कि मनुष्य स्वाँस लेते हुए दिखाई देते हैं, वृक्षों में स्वाँस लेने की शक्ति नहीं।"

इस पर शौनकजी बोले—"नहीं सूतजी ! वृक्ष भी स्वाँस लेते हैं। हमारे यहाँ तो सनातन से उद्भिज, अण्डज, स्वेदज और जरायुज ये चार प्रकार के प्रधान जीव माने गये हैं। उद्भिज वे ही जीव हैं, जो पृथ्वी को फोड़कर बढ़ते हैं जैसे वृक्ष, इतनी ही बात है कि इनकी साँस अव्यक्त होती है। ये स्वाँस लेते हैं तो मनुष्यों को सुनाई नहीं देती। फिर साँस लेना ही तो जीवन नहीं कहलाता। यदि यही हो तो लुहार की धौंकनी तो फूँ-फूँ करके बहुत साँस लेती रहती है।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज ! धौंकनी तो दूसरों के द्वारा साँस लेती है, वह खाती-पीती तो नहीं चलती-फिरती भी नहीं है, वह तो एकदम निर्जीव है।"

शौनकजी बोले—"यही तो मैं कह रहा हूँ। सजीव कौन है ? भगवत्-कथा से विहीन सभी निर्जीव हैं। रही दूसरों के द्वारा साँस लेने की बात सो, हम ही कौन से स्वतन्त्र हैं ? आज प्राणवायु निकल जाय, फिर शरीर ज्यों-का-त्यों पड़ा रहता है, कहाँ साँस लेता है ? हम भी तो पराधीन ही हैं। रही खाने-पीने की बात, सो ये सूकर-कूकर नहीं खाते-पीते हैं क्या ? ये मल-मूत्र त्याग नहीं करते क्या ? क्या इनके बाल-बच्चे नहीं होते ? जब खाना-पीना ही जीवन है तो इनमें और मनुष्य में क्या अन्तर रहा ?"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज ! है तो ठीक, किन्तु पशु घास फूस ऐसी-ऐसी तुच्छ चीजें खाते हैं। मनुष्य अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खाता है।"

शौनकजी बोले—"अच्छी आप किसे कहते हैं ? जिसे जो

अच्छा लगे। बहुत से लोगों को मांस देखते ही वमन हो जाती है, बहुत से लोग कहते हैं—"संसार में मांस से बढ़कर स्वादिष्ट दूसरा पदार्थ नहीं। कोई वस्तु जो एक को स्वादिष्ट लगती है दूसरे को वही स्वादहीन प्रतीत होती है। जिसका मन जिसमें रम गया उसे वही वस्तु मीठी-स्वादिष्ट प्रतीत होती है। कूकर, शूकर, कौए आदि को विष्ठा बड़ी स्वादिष्ट लगती होगी। तभी तो प्रातःकाल वे बड़े स्वाद से बड़े चाव से खाते हैं। उसके लिये शूकर आदि परस्पर में लड़ते हैं। माता दौड़कर पहिले खाती है, अपने बच्चों को नहीं खाने देती। असली स्वाद इन पदार्थों में नहीं। स्वाद तो श्रीकृष्ण की रस भरी, सुखकरी, मधुरता से पूर्ण मनोहर कथाओं में है। जिन्हें उस स्वाद का चस्का लग गया, उनके लिये ये संसारी स्वाद अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होते हैं। जो कथा-कीर्तन से रहित होकर गृह-प्रपञ्च में ही आठों पहर लगे रहते हैं वे गर्दभराज हैं कि भर पेट खा लिया और चीनी, मिट्टी, मल, चन्दन जो भी पीठ पर लाद दिया लेकर चलते रहे। या ऊँट के समान हैं कि सुन्दर मीठी वनस्पति, फल फूलों को छोड़कर काँटेदार बबूल को खाकर ही तृप्ति मिलती है।"

सूतजी बोले—"महाराज ! कृष्ण-कथा को तो कान ही श्रवण करेंगे। अन्य इन्द्रियों की सार्थकता किसमें है ?"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी ! जो कान कृष्ण-कथा नहीं सुनते, वे तो व्यर्थ के छिद्र हैं। सर्प, चूहे और नेवले के रहने के बिल हैं। कान वही हैं जो कृष्ण कथा श्रवण में ही लगे रहें। जिह्वा की सार्थकता व्यर्थ की बकवाद में नहीं है, भगवन्नाम सङ्कीर्तन ही उसका मुख्य और प्रधान कर्तव्य है। जो जिह्वा कृष्ण नाम सङ्कीर्तन नहीं करती, वह मेढक की जिह्वा के समान है, जो व्यर्थ में टर्र-टर्र करती रहती है।"

"बड़ा सिर हो उस पर काले कुञ्चित केश हों सुवर्ण का मुकुट

बँधा हो, इतने से ही उसकी सार्थकता नहीं। इतने से ही वह सुन्दर शोभायमान सिर नहीं कहा जा सकता। यथार्थ सिर वही है, जो साधु वैष्णवों को देखते ही अपने आप नत हो जाय, भगवान् के मन्दिर की धूलि में लोट जाय। भगवत् विग्रहों को देखते ही नम्र हो जाय।"

"इसी प्रकार चाहे हाथ सुन्दर सुडौल हैं, उनमें शङ्ख, चक्रों के सुन्दर चिन्ह हैं, इत्र फुलेल लगाकर चिकने बनाये गये हैं, कङ्कण, अङ्गद आदि सुन्दर आभूषणों से मण्डित भी हैं, यदि उनसे भगवत् पूजा सम्बन्धी कार्य नहीं होता, भगवान् के लिये पुष्प नहीं चुनते, फल अमनिया नहीं करते, भगवान् के मन्दिरों में मार्जन नहीं करते तो उन हाथों को मृतक शरीर में लगे, निर्जीव हाथ ही समझना चाहिये। मृतक पुरुषों के मांस को जब कछुए नोंचकर खाते हैं, तब वे हाथ भी तो इधर-से-उधर हिलते हैं। इसलिये सूतजी ! हाथों की सार्थकता श्याम-सुन्दर की सेवा सामग्री सञ्चय करने में इधर-उधर से जुटाने में ही है।"

"जो नेत्र नित्य नन्दनन्दन के श्रीविग्रहों के दर्शन नहीं करते, जिनमें भगवान् की बाँकी-झाँकी करके प्रेमाश्रु नहीं आते जो भगवान् के सुन्दर शृङ्गार को निहारकर निहाल नहीं बन जाते, वे तो चित्र में बनाये नेत्रों के समान हैं। कानी कौड़ी की तरह फूटे हुए हैं अथवा मोरपङ्ख में बनी नेत्र के आकार की निर्जीव रेखा मात्र हैं।"

जो पैर भगवान् के मन्दिरों में दर्शन करने नहीं जाते, तीर्थों में नहीं जाते, महापुरुषों के, सन्त-महात्माओं के दर्शनों को नहीं जाते, वे तो वृक्ष के तने के समान हैं। जिस अङ्ग से भगवत् पूजन का संसर्ग है वही तो जीवित अङ्ग है नहीं तो उसे मृतक शरीर का अङ्ग ही समझना चाहिये। सिर पर भगवान् की चरण-रज,

उनकी निर्माल्य की माला, उनके चरणों की चढ़ी तुलसी, भगवत् प्रसादी चन्दन चढ़े तो उसकी सार्थकता है। इसी प्रकार नासिका भगवान् की प्रसादी तुलसी को सूँघकर सुखी हो तो वह यथार्थ घ्राण है, नहीं तो उसे लुहार की धौंकनी की नली ही समझनी चाहिये।

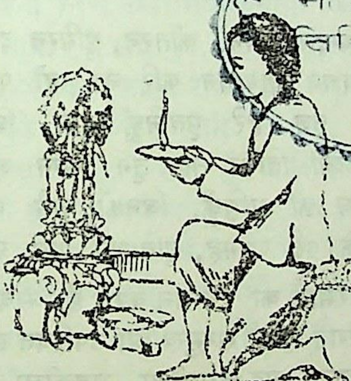
"सूतजी! हृदय तो वही सरहनीय है, जो चन्द्रकान्त मणि के समान स्वच्छ, निर्मल दोषरहित हो। जहाँ अपने कान्त चन्द्रमा की किरणों से संसर्ग हुआ कि चूने लगे, द्रवित होने लगे। कृष्णचन्द्र के चारु चरित्रों को सुनते ही गद्गद हो जाय, पिघलकर आँखों के द्वारा प्रवाहित हो जाय। वही सराहनीय प्रशंसनीय है। यदि ऐसा नहीं है, शुष्क है, नीरस है, तड़फड़ाहट शून्य है तो उसे तो लोहसार फौलाद का एक गोला ही समझना चाहिये। वे भक्त वन्दनीय और पूजनीय हैं, जिनका हृदय कोमल है, सरस है, बहने वाला है, तड़फने और बिलबिलाने वाला है, जो छुई-मुई की तरह लजीला है, नवनीत के सदृश स्निग्ध है, मोम के समान मुलायम है, गङ्गा के समान स्वच्छ है। ऐसे सुहृदय सरल हृदय भक्तों के चरणों में हमारा बार-बार प्रणाम है। सूतजी! अब आप हमें श्रीशुक और परीक्षित् सम्वाद सुनाइये।"

इतना कहकर शौनकजी चुप हो गये। शौनकजी के चुप हो जाने पर सूतजी ने कहा—"महाभाग! शौनकजी! आपके मुख से भगवद् भक्ति वर्द्धक ये बातें सुनकर मेरा चित्त अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। यथार्थ में मनुष्य के अङ्गों की सार्थकता भगवत् सेवा सम्बन्ध से ही है। आप तो त्रिकालज्ञ हैं, अपने योगप्रभाव से सब कुछ जानकर भी लोक-कल्याण के निमित्त मुझसे पूछ रहे हैं। अतः मैं आपको सुनाने के अभिप्राय से नहीं, अपनी वाणी को सार्थक करने के निमित्त भगवत् चरित्रों का वर्णन करूँगा।

महाराज परीक्षित् ने जो कुछ पूछा है और श्रीशुक ने उसका जो उत्तर दिया है, उस प्रसङ्ग का जितना इस भागवती कथा से सम्बन्ध है वह मैं आपसे कहूँगा। आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

पायो पुण्य शरीर मनुष क्यौं पाप बटोरै।
अरे, अमृतमहँ अधम व्यर्थ क्यौं विषकूँ घोरै॥
पतिनी, पशु, परिवार, पुत्र, धन सङ्ग न जावैं।
मलि मलि धोवै देह अन्तमहँ गीदड़ खावैं॥
काहे भूल्यो बावरे, मेला जग को द्वै दिवस।
कृष्ण कृष्ण रटि कृष्ण जपि, कृष्ण कथा सुनि अहरनिस॥



कथारम्भ

[८८]

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणम्
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषम्
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥*

(श्री० भा० २ स्क० ४ अ० १५ श्लोक)

छप्पय

जिनको बन्दन, श्रवन, कीतरन, सुमिरन दरशन।
पूजन अरचन नामगान करि नर हों पावन॥
सञ्जीवनि रुज हरे मृतनिकूँ सुधा जियावै।
हरै दीप ज्यों तिमिर तूल तृन अग्नि जरावै॥
त्यों ही अघ की राशिकूँ, जिनको नासै नाम है।
तिनि प्रभु के पद पद्ममह, पुनि-पुनि पुन्य प्रनाम है॥

जहाँ हम परमार्थ का चिन्तन करते हैं, सबसे पहिले यह नाम रूपात्मक जगत् हमारे सम्मुख आ उपस्थित होता है। नाना रूपों में दीखने वाला यह चमकीला, भड़कीला, मोहक संसार क्या है, इसे किसने बनाया, क्यों बनाया ? ये प्रश्न सीखने नहीं

---

* श्रीशुकदेवजी मङ्गलाचरण कह रहे हैं—"जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण और पूजन तत्काल ही मनुष्यों के पापों को नष्ट कर देता है। उन पुण्यकीर्ति प्रभु के पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम है।"

पड़ते, स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। प्रायः सभी मुनियों ने विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के सम्बन्ध में विचार किया है और यह विचार आवश्यक भी है। हमारे प्रत्येक अणु-अणु में तो यह संसार घुसा है। जब तक इसका यथार्थ रूप न समझा जाय, तब तक यह मन से कैसे निकल सकता है ? हृदय में जब तक संसार बसा हुआ है, तब तक वहाँ श्यामसुन्दर का वास कैसे सम्भव हो सकता है। यही सब सोचकर महाराज परीक्षित् ने सर्वप्रथम यही प्रश्न श्रीशुकदेवजी से किया और शौनकादि मुनियों ने भी सूतजी से यही बात पूछी। इसे सुनकर सूतजी कथारम्भ करने का उपक्रम बाँधने लगे।

सूतजी बोले—"मुनियो ! जब व्यासनन्दन भगवान् शुकदेवजी ने महाराज परीक्षित् को आश्वासन दिया, श्रीकृष्ण ही एक परात्पर तत्त्व हैं—इस पर जब बार-बार बल दिया तो महाराज ने अपना चित्त उन्हीं सर्वान्तर्यामी श्रीभगवान् वासुदेव के चरणों में लगाया। वे स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन, बन्धु-बान्धव सप्त द्वीपवती पृथ्वी का एकछत्र राज्य–इन सबको तो पहिले ही परित्याग कर चुके थे। किन्तु इनमें जो कुछ थोड़ी ममता रह गई थी तथा मैं क्षत्रिय हूँ, मैं राजा हूँ आदि शरीर में जो अहंता थी, इसका भी इन्होंने परित्याग कर दिया। अब वे अहंता-ममता से शून्य होकर तथा धर्म, अर्थ और काम जो त्रिवर्ग के साधक लौकिक वैदिक कर्म हैं, उन कर्मों का भी त्याग करके एकमात्र कृष्ण-कथा-श्रवण में दत्तचित्त होकर यही बात श्रीशुकदेवजी से पूछने लगे।"

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! आप कृपा के सागर हैं, अनुग्रह के भंडार हैं, दया के निधि हैं। आप जो वचन बोलते हैं, वे मुझे उतने ही सुखकर होते हैं, जितना अत्यन्त भूखे पुरुष को जाड़े में वह गरमागरम हलुआ प्रिय लगता है, जिसमें से घी

चू रहा हो, भाँति-भाँति की मेवा जिसके ऊपर लगाई गई हो, उष्ण होने के कारण जिसमें से धूँआ निकल रहा हो। ऐसे सयाव हलुआ का एक ग्रास जैसे भूखे पुरुष को सुखकर प्रतीत होता है, उसी प्रकार हे सर्वज्ञ! आपका एक-एक वचन मेरे अज्ञान को दूर कर रहा है। जैसे सूर्य निकलने के पूर्व ही उसकी आभामात्र से ही समस्त अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार कथा कहने के पूर्व ही आपके आश्वासन से मेरा शोक सन्ताप दूर हो गया है। जैसे जल में डूबते हुए पुरुष के समीप नौका पहुँच जाती है, बिना उस पर चढ़े ही वह यदि उसकी लटकती हुई रस्सी को भी पकड़ लेता है तो जिस प्रकार वह फिर जीवन से आशान्वित हो जाता है, उसी प्रकार आपके दर्शनमात्र से अब मुझे दुर्गति का भय नहीं रहा।"

जिस व्यक्ति को चोर सता रहे हों और दूर से कोई दृढ़ता के साथ कह दे 'घबराना मत, हम आ रहे है।' जिस प्रकार इन वचनों को सुनकर ही चोर भाग जाते हैं और सताया जाने वाला पुरुष निर्भय हो जाता है। उसी प्रकार मैं भी महाराज खट्वाङ्ग की बात सुनकर निर्भय हो गया हूँ। अब हे प्रभो! आप मेरी शङ्काओं का समाधान कीजिये और मेरे प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दीजिये।

"अब महाराज! मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह जगत् क्या वस्तु है? बड़े-बड़े ब्रह्मादि देवता, लोकपाल, मनु, प्रजापति भी जिस संसार के यथार्थ रूप को नहीं समझ सकते, उसकी रचना भगवान् ने अपनी माया से कैसे खेल-खेल में ही कर डाली? उत्पत्ति करके कैसे वे इसका पालन करते हैं, कैसे फिर नाश कर डालते हैं? जिस-जिस शक्ति को आश्रय बनाकर हँसी-हँसी में बिना प्रयास लीला से ही इस चित्र-विचित्र नाना रूप रङ्ग वाले जगत् को बना देते हैं, उन्हें भी आप सुनाइये।

एक ही भगवान् तीन रूप रखकर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कैसे करते हैं—"इसे भी समझाइये ? अवतार कैसे लेते हैं, अवतार धारण करके क्या-क्या क्रीड़ा करते हैं, इसे भी बतलाइये ? आप कह सकते हैं कि जिसे ब्रह्मादिक देवता भी यथार्थ नहीं जानते उसे मैं क्या जानूँ ? सो बात नहीं। आप तो सर्वज्ञ हैं, शब्द ब्रह्म और परब्रह्म–वेद विद्या और अध्यात्म विद्या–दोनों में निष्णात हैं। इसलिये आप मेरे गूढ़ प्रश्नों का भी यथार्थ उत्तर दे सकते हैं।"

सूतजी बोले—"मुनियो ! महाराज परीक्षित् के ऐसे तत्त्वज्ञान सम्बन्धी गूढ़ वचन सुनकर मेरे गुरुदेव भगवान् शुकदेवजी कथारम्भ करने के लिये प्रस्तुत हुए। वे कुछ सम्हलकर सीधे तकिये के सहारे सावधानी से बैठ गये। इन्होंने अपने दोनों नेत्र बन्द कर लिये। दोनों हाथों की बँधी हुई अञ्जलि ऐसी मालूम होती थी, मानों दो नील कमलों के भीतर एक लाल कमल रखा हो। ध्यान लगकर नेत्र बन्द करके हाथ जोड़े हुए उन्होंने कथा कहने के पूर्व मङ्गलाचरण किया। वे गद्‌गद कण्ठ से गम्भीर वाणी में बड़े स्वर के साथ भगवान् की दयालुता का, उनकी महिमा का वर्णन करते हुए स्तव पाठ करने लगे।"

मुनियो ! शास्त्रकारों ने मङ्गलाचरण के तीन प्रकार बताये हैं—वस्तु निर्देशात्मक, नमस्कारात्मक और आशीर्वादात्मक।

मेरे गुरुदेव ने अपने मङ्गलाचरण में इन तीनों का ही निर्देश किया है। उन्होंने अपने मङ्गलाचरण में ही इतनी सुन्दरता से समस्त भागवत का सार तत्त्व कह दिया है कि बड़े-बड़े ज्ञानी भी उनके बुद्धि कौशल को देखकर मोहित हो जाते हैं। जो कुछ कहना चाहिये था, ११ श्लोकों में उन्होंने सब कुछ कह दिया है। ११ श्लोकों में उन्होंने बताया कि तत्व एक

ही है। उसने अपने ही आकार प्रकार के दो रूप (राधा और कृष्ण) बना लिये हैं। उनमें न कोई भेद है, न अन्तर। एक दूसरे को बढ़ा रहे हैं। ११ श्लोक कहने का भाव यह भी है कि मायिक जगत् में ११ वस्तु प्रधान हैं। पञ्चभूत, पञ्च-इन्द्रियाँ एक मन। ११ कहने का तात्पर्य यह भी जान पड़ता है कि भगवान् के प्रधान १० अवतार माने गये हैं। श्रीकृष्ण दशों के कारण अवतारी ११ वें हैं। एकादश रुद्र ही इस जगत् के प्रलय में हेतु हैं। इस प्रकार जो कुछ कहना था वह सब मङ्गलाचरण के मिस से गुरुदेव ने इन ११ श्लोकों में ही कह दिया। आगे के सभी स्कन्धों में इसी का विस्तार है, उन्हीं का भाष्य है। मुनियो ! नित्य पाठ करने योग्य हृदय का हार बनाने योग्य इन ११ श्लोकों का भाव तो मैं फिर कहूँगा। इस कथा प्रसङ्ग में तो उनका दिग्दर्शन ही कराये देता हूँ। पहिले श्रीशुक ने जगत् की उत्पत्ति और प्रलय के निमित्त सत्व, रज और तम से ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप धारण किये तथा सर्वान्तर्यामी रूप से सबमें व्याप्त उन भूमापुरुष को प्रणाम किया। फिर गुरु रूप से, इष्ट रूप से, आधार रूप से, अर्चा विग्रह रूप से, ब्रह्म रूप से, पतितपावन रूप से, सद्गुण आलय रूप से, पति रूप से, ज्ञान रूप से, कर्ता रूप से और पुरुष रूप से भगवान् की वन्दना की। अनन्तर जिनके मुखकमल से निकले हुए ज्ञानामृत का साधु पुरुषों ने तथा स्वयं उन्होंने भी यथेष्ट पान किया, उन परम तेजस्वी अपने पिता भगवान् व्यासदेव की वन्दना की।

इस प्रकार बड़े स्वर से, बड़ी लय के साथ परमहंस चूड़ामणि मेरे गुरुदेव ने स्तुति गान किया। मुनियो ! मैं वहीं उनके सामने बैठा हुआ सुन रहा था, उनके ओज पूर्ण मधुर गान को सुनकर समस्त सभा स्तम्भित हो गई, सर्वत्र सन्नाटा छा

गया। वायुदेव भी मन्द-मन्द चलने लगे। पक्षियों ने कलरव करना बन्द कर दिया। सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य था। इतनी भारी परिषद् में कोई जोर से साँस भी लेता तो वह भी स्पष्ट सुनाई देती। सभी ऋषि, मुनि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि चित्र लिखे के समान बन गये। मैं मन्त्र मुग्ध की भाँति बिना पलक मारे अपने गुरुदेव के मुख कमल को निरन्तर निहार रहा था। मङ्गलाचरण करने के अनन्तर वे कुछ देर ठहरे। फिर धीरे-धीरे उनके विशाल बड़े-बड़े नेत्र उसी प्रकार खुलने लगे, जैसे सूर्योदय के समय मुँदे हुए कमल खिलते हैं। एक बार उस स्तम्भित हुई सभा की ओर विहङ्गम दृष्टि डालकर राजा की ओर लक्ष्य करके उन्हें सम्बोधित करते हुए मेरे आचार्यदेव बोले—"राजन्! लोक पितामह ब्रह्माजी के अन्तःकरण में इस विश्व ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति के पूर्व अपने आप वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। बिना सिखाये पढ़ाये ही भगवत् प्रेरणा से उसके हृदय में वेदों का प्रकाश हो गया। उस समय कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी को साक्षात् श्रीमन्नारायण देव ने श्रीमद्भागवत का उपदेश दिया। उस परम ज्ञान को पाकर ब्रह्माजी कृतकृत्य हुए। फिर ब्रह्माजी ने अपने पुत्र नारदजी के पूछने पर उसी भागवत तत्त्व का उपदेश उन्हें दिया। नारदजी ने खिन्न बैठे हुए मेरे पिता भगवान् व्यास को उसी तत्त्व को समझाया। अपने पिता से मैंने इस परम पावन ज्ञान को पढ़ा। उसी श्रीमद्भागवत रूपी महान् ज्ञान उपदेश को मैं आपके सम्मुख करूँगा।

"एक समय की बात हैं कि देवर्षि नारदजी वीणा बजाते, हरिगुन गाते अपने पिता ब्रह्मदेव के लोक में पहुँचे। चिरकाल के अनन्तर अपने प्रिय पुत्र को आया देखकर ब्रह्माजी ने उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित किया। नारदजी भी पिता के पादपद्मों में प्रेमपूर्वक

प्रणाम करके उनके बताये हुए आसन पर बैठ गये। बैठने के अनन्तर अब वे ब्रह्माजी से प्रश्न पूछने को उद्यत हुए। प्रश्न पूछने का नियम यह है, नम्रता के साथ हाथ जोड़कर फिर प्रणाम करके बड़ी सावधानी से सारगर्भित शब्दों में संक्षेप में भी न पूछे जिससे प्रश्न का अभिप्राय स्पष्ट समझ में न आवे और इतने विस्तार से भी न पूछे कि विस्तार करने में मुख्य प्रश्न का पता ही न चले। व्यर्थ एक भी शब्द न हो। इसी नियम के अनुसार नारदजी ने पूछा।

नारदजी ने नम्रता के साथ निवेदन किया—"हे समस्त देवताओं के भी देवता! हे समस्त प्राणियों से भी पूर्व उत्पन्न होने वाले! हे सबके उत्पन्न करने वाले भगवन्! आपके अरुण चरणों में मैं पुनः-पुनः प्रणाम करके कुछ पूछना चाहता हूँ। कृपा करके आप मुझे उस ज्ञान का उपदेश करें, जिसके द्वारा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है। स्वामिन्! यह दृश्यमान प्रपञ्च जिसका रूप है, जिसके आश्रय से यह विद्यमान रहता है, अन्त में जाकर जिसमें यह लीन हो जाता है तथा जो इसका नियामक है, जिसके अधीन होने से यह सदा इसी प्रकार चलता रहता है। उस परतत्त्व का आप मुझे उपदेश करें।"

ब्रह्माजी ने हँसकर कहा—"अरे, भैया! मैं यह सब क्या जानूँ? किसी और से पूछो।"

इस पर नारदजी बोले—"नहीं प्रभो! आप यह सब जानते हैं। आपसे भला कौन-सी बात छिपी है? आप तो तीनों काल के नियामक हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान सभी के स्वामी हैं। किसी के हाथ पर कोई फल रखा है, कुछ हथेली से दबा हुआ है उस पर कोई चींटी चढ़ रही है तो जो दबा हुआ भाग है उसे चींटी नहीं देख सकती, जो उसके पीछे के भाग में है उसे

भी नहीं देख सकती। किन्तु जिसके हाथ में वह रखा है उसके लिये तो फल का कोई भाग अज्ञात नहीं। इसी प्रकार अन्य प्राणी भूत, भविष्य नहीं समझ सकते, किन्तु आपके लिये तो कोई भेद-भाव है ही नहीं। आप ही तो यह सब विभाग बनाने वाले हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अरे भैया! मैं कहाँ बनाता हूँ, बनाने वाला तो कोई और है। मैं तो उसी के आधार से सब करता हूँ।"

इस पर नारदजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! मैं यही तो जानना चाहता हूँ कि आपको यह विचित्र विज्ञान शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई? आपका आधार क्या है? आप भी किसी के अधीन हैं क्या? हम तो महाराज, आपको ही देखते हैं। जैसे कुम्हार चाक चलाकर उस पर मिट्टी का लौंदा रखकर मनमाने सकोरा, कुल्हण, घड़े, नाँद, मटका जो चाहता है, बनाता जाता है। उसे न कुछ प्रयास करना पड़ता है, न विचार। इसी प्रकार आप इस चराचर विश्व को बनाते हैं कुम्हार को तो मिट्टी लानी पड़ती है। चाक, डण्डा, सूत, पानी आदि सामग्रियाँ इकट्ठी करनी पड़ती हैं। आपको यह सब भी नहीं करना पड़ता। जैसे मकड़ी अपने मुँह में से ही सूत निकालकर जाला बुन देती है, उसी प्रकार आप भी बैठे-बैठे स्वतः सङ्कल्प से यह सब बनाते रहते हैं। मकड़ी के लिये भी सम्भावना की जा सकती है कि निरन्तर बनाती रहे तो सम्भव है उसका तार चुक जाय, वह थक जाय, किन्तु आप में कभी कोई विकार न्यूनाधिकता दिखाई नहीं देती। एक रस से आप बनाते रहते हैं। जगत् में जिधर भी मैं दृष्टि डालता हूँ, उधर आपकी बनाई हुई ही सामग्रियाँ दिखाई देती हैं। ऊँची-से-ऊँची, नीची-से-नीची, बड़ी-से-बड़ी, छोटी-से-छोटी, पतली-से-पतली, मोटी-से-मोटी, दिखाई देने वाली, न दिखाई देने वाली,

सद्-असद् सभी की उत्पत्ति आपसे ही होती है। आपके सिवाय और कोई रचयिता दिखाई देता नहीं।

यह सब होने पर भी सबके स्वामी, कर्ता, ईश्वर और विधाता होते हुए भी आप कभी घोर तप करते हैं, कभी प्रेम में रोते हैं, कभी हाथ जोड़कर स्तुति करते हैं इससे मुझे बड़ी शङ्का होती है। आप तो सबके वन्दनीय हैं, फिर आप किसकी वन्दना करते हैं? आप तो सबके ध्येय हैं। फिर आप किसका ध्यान करते हैं? आप ही सबके पूजनीय हैं, आपसे बढ़कर कौन है जिसकी आप पूजा करते हैं? मेरी इन शङ्काओं का समाधान कीजिये।"

इस बात को सुनकर लोकपितामह ब्रह्माजी हँसे और बोले—"बेटा, नारद! तुमने जो शङ्का की है, यह तुम्हारी अपनी नहीं है। लोकों के अनुग्रह के लिये, जगत् के कल्याण के निमित्त तुमने संसारी लोगों का प्रतिनिधित्व करते हुए यह प्रश्न किया है। यह प्रश्न करके संसारी लोगों पर तो तुमने कृपा ही की है, मेरे ऊपर भी बड़ी कृपा की। इसी बहाने मुझे भगवत् गुण लीला वर्णन करने का अवसर मिल जायगा।"

"तुम जो मुझे सबका स्वामी बता रहे हो यह तुम्हारी भूल है। जिस माया के अधीन यह सब प्रपञ्च दिखाई देता है, मैं भी जिस माया का ही आश्रय लेकर सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होता हूँ, उस माया के भी एक पति हैं। वे ही मेरे भी स्वामी हैं। मेरे ही नहीं चराचर विश्व के स्वामी हैं। उन्हीं की प्रेरणा से यह सब हो रहा है। मैं तो उनके हाथ का खिलौना हूँ। जो कराते हैं करता हूँ, जो कहलवाते हैं कहता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर ब्रह्माजी ने नारद जी को सृष्टि कैसे होती है, इसका क्रम बताया। महानुभावो! सृष्टि का तो बड़ा गोरखधन्धा है। इसे तो मैं सृष्टि प्रकरण में ही

विस्तार से बताऊँगा। सृष्टि के अनन्तर विराट् स्वरूप का वर्णन किया। मुनियो! सच्ची बात तो यह है, अब मेरा काम ही कथा कहने का ऐसा है कि इसमें प्रसङ्गानुसार सभी कहना पड़ता है। वैसे विराट् भी भगवान् का ही रूप है, हम उन्हें बार-बार प्रणाम करते हैं, किन्तु हम तो मधुरता के उपासक हैं। हजार बाहु, हजार नेत्र, सम्पूर्ण संसार के अच्छे, बुरे, सुखद, बीभत्स दृश्य जिसमें दीखें उस विराट् रूप को दूर से ही दण्डवत् है। परन्तु फिर भी मैं प्रसङ्गानुसार तत्व ज्ञान के प्रकरण में इसका वर्णन करूँगा।"

शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी! ठीक है। ऐसे गम्भीर प्रसङ्गों को तो प्रातःकाल ही सुनना और पढ़ना चाहिये। इसमें बुद्धि को बहुत एकाग्र करने की आवश्यकता है। बहिरङ्ग वृत्ति वाले पुरुष तो ऐसे प्रसङ्ग को तनिक सुनते ही ऊब जाते हैं, कोई जम्हाई लेते हैं, कोई नींद में झूमते हैं, कोई उठकर चले जाते हैं। इसलिये अब तो कथा प्रसङ्ग को ही कहें। कथा प्रसङ्ग को साधारण-असाधारण सभी लोग बड़े चाव से सुनते हैं। हाँ तो विराट् भगवान् का वर्णन करने के अनन्तर ब्रह्माजी ने नारदजी से फिर किसका वर्णन किया?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"शौनकजी! जब विराट् पुरुष के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गों में इस विश्व की वस्तुओं की कल्पना करके यह सभी जगत् विष्णुमय है, इस सिद्धान्त को बता दिया है। तब ब्रह्माजी ने स्वतः ही नारदजी से कहा—"मुनिवर! इन यक्ष, राक्षस, देवता, पितर, सिद्ध, चारण आदि के अतिरिक्त जो भूमा-पुरुष के परम पावन प्रधान-प्रधान अवतार हैं, उनका मैं क्रमशः वर्णन करूँगा। उन अवतारों के चरित्रों को सुनते ही सभी पाप-ताप दूर हो जाते हैं। इतना कहकर ब्रह्माजी प्रधान-प्रधान अव-तारों का वर्णन करने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिस प्रकार ब्रह्माजी ने नारद जी के सम्मुख अवतार लीलाओं का वर्णन किया था, उन्हीं को मैं आपके सम्मुख वर्णन करूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"महाभाग ! अवतारों का वर्णन तो आप पीछे कर चुके हैं। पीछे आपने २२, २३ अवतारों की संक्षिप्त कथायें सुनाई हैं अब आप उसके अतिरिक्त अन्य नये अवतारों का वर्णन करेंगे या फिर से उन्हीं को कहेंगे ?"

इस पर सूतजी बोले—"अजी शौनकजी ! अब आप भी ऐसी बातें कहने लग गये ? अवतार कथाओं का ही नाम तो भागवती कथा है। उनका बार-बार कथन करने पर भी पुनरावृत्ति दोष नहीं होता। ये अवतार चरित्र तो जितनी बार भी सुने जायँ, उतने ही कम हैं।"

यह सुनकर शीघ्रता से शौनकजी ने कहा—"नहीं, नहीं, सूतजी ! मेरा यह अभिप्राय नहीं था कि आप न कहें, अवश्य कहें किन्तु नई कथा में उत्सुकता के कारण मन अधिक लगता है जैसे एक मिठाई खाते-खाते चित्त ऊब जाय तो दूसरी खाकर स्वाद बदल लिया।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"मुनिवर ! मिठाइयों में पृथक्ता क्या है ? आटा, घी, और चीनी–इन्हीं से समस्त अन्न की मिठाइयाँ बनती हैं। मैदा को पतली करके कुण्डली के आकार की जलेबी घी में सेककर चीनी के बख्खर में डाल दीं, उनका नाम जलेबी हो गया। नुकती उतारकर चासनी में डालकर गोल-गोल बना लिये, लड्डू हो गये। इसी तरह सभी मिठाइयों में पदार्थ एक ही है। खोये की मिठाइयों में भी यही बात है। खोये को गाढ़ा करके चीनी मिलाकर चिपटे से बना दिये, पेड़े हो गये, पतला करके जमाकर कतरी काट

ली, बरफी बन गई। कतरी न काटी गोल-गोल बना दिये, खोये के लड्डू बन गये। पदार्थ वे ही हैं, केवल रूप आकृति में अन्तर हो जाता है। इसी प्रकार अबके मैं दूसरी तरह से बड़ी मस्ती के साथ कहूँगा। आप सुनते-सुनते हँस पड़ेंगे। एकदम नवीनता दिखाई देगी।"

इतना कहकर सूतजी भगवान् के उन चरित्रों का वर्णन करने लगे। जो ब्रह्माजी ने नारदजी के सम्मुख वर्णन किये थे।

छप्पय

बोले राजा—प्रभो ! सृष्टि उतपत्ति बतावें।
निरगुनतें यह सगुन भयो कैसे समुझावें॥
शुक बोले—विधि निकट यही पूछी नारद मुनि।
कहूँ भागवत भूप ! समाहित मन करिकें सुनि।
ब्रह्मा विष्णु महेश बनि, रचि पालहि मारहिँ सबहिँ।
हरि अवतारनि की सुखद, कथा कहहुँ नृप सुनु अबहिँ॥

सूकरावतार

(८९)

यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय विभ्रत्
क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं
तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्रधरो ददार ॥*
(श्री० भा० २ स्क० ७ अ० १ श्लोक)

छप्पय

बनिगे सूअर श्याम मेघ सम लम्ब तड़ंगे।
घुर्र घुर्र करि घुसे नीरमहँ नङ्ग धड़ंगे ॥
आयो भीषण दैत्य भिड़े नख दाँत चलावें।
गई सिटिल्ली भूलि बली लखि मुँह मटकावें ॥
पटक्यो फिरि सटक्यो तुरत, झटक्यो लटक्यो चोटतें।
चट्ट पट्ट मार्यो असुर, धरणी देखे ओटतें ॥

सूतजी बोले—"सूकराय नमोनमः, चक्रतुण्डायनमः, वृहद् वाराहायनमः, वज्रदंष्ट्रायनमः। जो है सो, मुनियो! तुम्हारा

---

* ब्रह्माजी नारदजी से कह रहे हैं—"जिस समय अनन्त प्रभु ने रसातल में गई पृथ्वी का उद्धार करने के निमित्त ऐसा वाराह रूप धारण किया जो सर्व यज्ञमय था। उस समय प्रलय कालीन महासमुद्र के भीतर उनसे लड़ने को आदि दैत्य हिरण्याक्ष आया। उसे उन्होंने अपनी दाढ़ों से उसी प्रकार विदीर्ण कर दिया, जैसे देवराज इन्द्र ने अपने वज्र से पर्वतों को विदीर्ण कर दिया था।"

रामजी भला करें, बूढ़े बाबा ब्रह्माजी को बैठे-बैठे एक दिन छींक आ गई। कमल ठंडा होता ही है। कमल के आसन के कारण ही सम्भव है, पितामह को सरदी हो गई होगी। छींकते ही अँगूठे के पोरुए की तरह एक सूअर का बच्चा उनकी नाक से फट्ट से निकल पड़ा। बूढ़े बाबा चौंक पड़े, बड़े घबड़ाये—अरे, यह क्या हो गया ? किसी के पेट में छोटे-छोटे कीड़े पड़ते हैं, नीचे से निकलते हैं। मेरे पेट में सूअर हो गये। राम राम राम ! क्या करूँ ? मालूम पड़ता है पेट में कोई सूअरी घुस गई, उसी ने बच्चे दे दिये। ऐसे और भी होंगे। क्या चूर्ण खाऊँ, कौन-सी चटनी से ये पेट के सूअर नष्ट हो सकते हैं ? कीड़े पड़ जाते हैं तो नीम की पत्ती पीने से ठीक हो जाते हैं। अब पेट में पैदा हुए सूअरों की क्या औषधि है, किससे पूछते ? तब तक अश्विनी-कुमार पैदा नहीं हुए थे। पितामह यही सोच रहे थे कि तब तक सूअर मेढक की बराबर होकर फुदकने लगा। ब्रह्माजी ने अपना आसन कुछ हटाया तब तक तो वह एक चूहे की तरह हो गया। ब्रह्माजी एक दृष्टि से उसे ही देख रहे थे। झट्ट वह बिल्ली की बराबर बन गया। अब तो ब्रह्माजी को सन्देह होने लगा। यह तो क्षण-क्षण में बढ़ता है। देखते-देखते वह साधारण सूअर के बराबर हो गया। ब्रह्माजी भयभीत होकर अपने पेट को मसलने लगे कि कहीं इसकी माँ भी भीतर इतनी बढ़ती हो तब तो जय-जय सीताराम हो जाय। तब तक सूअर स्वामी मतवाले हाथी के बराबर हो गये। ब्रह्माजी ने देखा पेट तो नरम है, उसमें कोई गड़बड़ वाली बात है नहीं। यह साधारण सूकर नहीं, यह तो कोई अद्भुत अचिन्त्य सत्य है। ब्रह्माजी सन्देह में पड़ गये। यह सब सत्यलोक की बातें हैं। तब तक महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक इतने ही लोक उत्पन्न हुए थे। वैसे तो चौदह भुवन हो गये थे, किन्तु उनमें बस्ती नहीं बसी थी, जीवों ने आकर

अपने डेरे-डण्डे नहीं जमाये थे। ब्रह्माजी ने देखा—सूअर बाबा तो आकाश में पहाड़ के शिखर के समान-बड़े भारी जलधर नीलमेघ के सदृश-शून्य में अधर खड़े हैं। ब्रह्माजी समझ गये-अरे, यह तो भगवान् हैं, यज्ञ वराह प्रभु हैं, मेरे स्वामी हैं, आदि अवतार हैं, सबके त्राता हैं, मेरे रक्षक हैं, पृथ्वी के प्रतिपालक हैं, दुष्टों के संहारक हैं, अनादि, अनन्त, अच्युत हैं, ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, उत्तमों में भी उत्तम हैं, ऋषियों के माननीय, पूजनीय, वन्दनीय, अर्चनीय, आराधनीय, सेवनीय और स्तवनीय हैं। यह सोचकर ब्रह्माजी लैंयाँ-पैंया भागे और अधीर होकर बार-बार साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे, अपने चक्र के समान गोल तुण्ड को हिलाकर उन्होंने ब्रह्माजी को आशीर्वाद दिया और वहाँ से तीर की तरह सीधे बड़े वेग से नीचे उतरे। बात-की-बात में तप-लोक, जनलोक, महर्लोक, स्वर्गलोक और भुवर्लोक इन सभी लोकों को पार करते हुए पृथ्वी के समुद्र के समीप आ पहुँचे, जहाँ सातों समुद्र एक हुए बड़े भारी सरोवर के समान दिखायी दे रहे थे। सूअर भगवान् ने आव गिना न ताव, सर्र से जल के भीतर घुस गये। वहाँ नव वधू के समान गुड़मुड़ी मारे सिकुड़ी बैठी हुई पृथ्वी को उठाकर अपनी दाढ़ों पर रखकर ज्यों ही चले, त्यों ही पीछे से सुनाई पड़ा—"ओ सूअर के बच्चे! कहाँ भागना है, खड़ा रह। खबरदार! आगे बढ़ा तो हड्डी-हड्डी चकनाचूर कर दूँगा।" सूअर भगवान् ने अपने दोनों हाथ—चाहे पैर कह लो-आगे उठाये, पृथ्वी डरी, यह क्या गड़बड़-सड़बड़ हुई। इतने में ही भूत की तरह आकाश से भी ऊँचा मणिजटित किरीट मुकुट पहिने हिरण्याक्ष नाम का दैत्य वराह भगवान् के सामने ताल ठोकता हुआ आ उपस्थित हुआ।

ये भी किसी से कम तो थे नहीं, पृथ्वी से बोले—"सुनती हो, वसुधा देवी! इस कुत्ते से मैं निपट लूँ, तुम यहीं बैठ जाओ।

घबड़ाना मत। मैं लड़ाई करूँगा।" डरती हुई वसुन्धरा बोली—"ना, ना, स्वामी। मेरे प्राणनाथ ! लड़ाई-झगड़ा मत करो। मार-धाड़ अच्छी नहीं होती। पूँछ दबाकर भाग चलो।" भगवान् उसे डाँटते हुए बोले—"अरे हट, स्त्री की जाति। मैं तेरी तरह चूड़ी पहिने हूँ या घूँघट लगाये हूँ क्या, जो भाग चलूँ। तू चुप-चाप बैठी रह, अभी मैं इसका कचूमर बनाता हूँ, अभी इसकी हेकड़ी भुलाता हूँ। अभी इसे यमपुर पठाता हूँ।" इतना कहकर ताल ठोंककर यज्ञ वराह रणाङ्गण में घुर्र-घुर्र करते हुए गदा लेकर उपस्थित हो गये। वह अधम असुर तो उधार ही बैठा रहता था लड़ाई-झगड़े के लिये। आज अपने से लड़ने वाले को देखकर वह मेघ के समान गरजा और गदा लेकर सूकर भगवान् की ओर बढ़ा। इधर से ये भी झपटे। दोनों में कलाबाजी होने लगी।

दैत्य ने अपनी तलवार सूकर भगवान् के उठे हुए पैरों के नीचे मारी। इन्होंने भी अपने पैने नखों से उसके पैर को खसोट लिया। तब उसने इनकी एड़ी में चोट की। इन्होंने भी उसको नोंच लिया। अब दोनों में गुत्थमगुत्था होने लगी।

वह इनके टखनों पर प्रहार करता है तो ये उसकी पिण्ड-लियों को पीड़ित करते हैं। वह घुटनों पर चोट मारता है तो ये उसके कटि भाग में मारते हैं। उसने देखा कि यह सूअर साधारण नहीं है, तब तो उसने बड़ी भारी गदा उठाकर इनके वक्षस्थल में मारी। ये भी कब चूकने वाले थे। इन्होंने भी गदा उठा ली। वह छाती में मारे तो ये हृदय में मारें। वह बायें स्तन पर मारे तो ये दाहिने पर प्रहार करें। वह बायें मणिबन्ध पर चोट करे तो ये दाँयें को तोड़ने की चेष्टा करें। वह बाँई भुजा में मारे तो ये दाँईं में मारें, वह गले में मारे तो ये उसकी हँसुली में मारें। वह इनके तुण्ड को तोड़े तो ये उसकी हनु को मरोड़ें। वह नीचे के ओठ में मारे तो ये ऊपर के ओठ में कूदकर प्रहार

करें। वह दाँई कनपटी पर मारे तो ये बाँई पर झपट्टा मार दें। वह बायें कान पर गदा छोड़े तो ये उसके दाँयें कान को पकड़कर मरोड़ें। वह इनकी बाईं आँख में लक्ष्य लगावे तो ये दाँत मारकर उसकी दाहिनी आँख को फोड़ दें। वह इनके थूथरे में घुमाकर गदा मारे तो ये उसके गाल पर तड़ाक से तमाचा जड़ दें। वह इनकी बाँईं भ्रुकुटी की ओर झपटे तो ये उसकी दाँईं भ्रुकुटी में दाँत गड़ा दें। वह इनके मस्तक पर मारे तो ये उसके भाल पर प्रहार करें। वह इनके बालों में मारे तो ये उछलकर उसकी खोपड़ी को फट्ट से फोड़ दें। वह इनके सिर में मारे तो ये उसके चमचमात मुकुट को तोड़ दें। इस प्रकार वह उधर से मारे ये इधर से मारें। वह उधर झपटे, ये इधर से डपटें। वह उधर से तड़के ये इधर से भड़कें। वह उधर से अटके तो ये इधर से सटकें। उधर से इसकी गदा चटके तो ये उधर से पैर पटकें। इस तरह दोनों एक दूसरे से लिपट-लिपटकर अपना बल दिखाने लगे। देवताओं की सिटिल्ली भूल गई वे सोचने लगे—पता नहीं, इस दैत्य से ये सुअर देवता जीत भी सकेंगे कि नहीं। वराह भगवान् को जो आया जोश तो उसे उठाकर पट्ट से पटक दिया और उससे बोले—"बोल बेटा! चटनी बनाऊँ या हलुआ?"

उसने मारी जो ऐंड़ सो एक झटक्के में ऊपर। सूकर स्वामी घुरु-घुरु ही करते रह गये। तब तो सूकर भगवान् की भी सिटिल्ली ढीली हो गई। वे समझने लगे—यह हमारे जोड़-तोड़ का ही जन्तु है, किन्तु कुछ चिन्ता नहीं। आज मुझे इसे यमसदन पहुँचाना है, इसके इतने बड़े शरीर को उसी तरह फाड़ूँगा जैसे बजाज कपड़े के थान को फाड़ता है या चटाई बुनने वाला एरका को बीच में से फाड़ देता है या बच्चे जैसे खरबूजों, तरबूजों और फूटों को फाड़ देते हैं। आज मैं नारियल की तरह इसके सिर को फट्ट से फोड़ दूँगा। आज इसकी

हड्डी-हड्डी तोड़ दूँगा। आज इसके सिर को पीठ की ओर मरोड़ कर पैरों से जोड़ दूँगा। इसके साखू के समान लम्बे-लम्बे हाथों को देह से तोड़ कर दूर फेंक दूँगा। आज इसे देवताओं के अपमान का स्वाद चखाऊँगा। ऐसा सोच कर सूकर भगवान् ने अपनी गोलाकार सूँड़सी को फाड़ कर जोर से एक दाँत उसकी छाती में गड़ा दिया और एक पैर को नीचे दबाकर फर्र से उसे बीच से फाड़ दिया। बोल दे वराह भगवान् की जय ! बोल सूकर भगवान् की जय !"

छप्पय

हे सूकर भगवान् ! चरण तव शीश नवावें।
यज्ञ रूप हैं आपु शास्त्र अरु वेद बतावें।।
स्वामिन सूकर रूप धरयो च्यों भेद बताओ।
ऊँच नीच नहिँ जीव यही का मर्म जताओ।।
जिनि पृथिवी उद्धार करि, मुदित करे सब देवगन।
तिनि वराह भगवान् की, जय बोलो अब सन्तजन।।

अवतार-कथा

[६०]

येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम् ।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वश्रृगालभक्ष्ये ॥*

(श्री० भा० २ स्क० ७ अ० ४२ श्लोक)

छप्पय

सूकर, हरि अरु कपिल, दत्त सनकादि तपस्वी ।
नरनारायन, ऋषभ, बिष्णु, ध्रुव परम यशस्वी ॥
हयग्रीव, पृथु, कच्छ, मत्स्य, वामन, धन्वन्तरि ।
परशुराम, श्रीराम हंस, मनु बनि प्रकटें हरि ॥
श्रीबलदाऊ, व्यासजी, बुद्ध, कल्कि आनन्दमय ।
सब अवतारिन के परम, अवतारी यशुमति तनय ॥

---

*ब्रह्माजी देवर्षि नारदजी से कह रहे हैं--"हे पुत्र ! जिन पर वे ही स्वयं साक्षात् श्री हरि भगवान् कृपा करें वे ही इस दुस्तर माया को पार कर सकते हैं और भगवान् की कृपा उन्हीं पर होती है, जो सर्वात्मभाव से निष्कपट होकर उन्हीं के चरणों की शरण गहते हैं । ऐसे पुरुषों की इन सियार, कुत्तों के खाने योग्य शरीर में अहं बुद्धि नहीं होती है ।"

सूतजी कहने लगे—"मुनियो ! जितना प्यार हाथी अपनी हथिनियों से करता है उतना प्यार स्यात् ही कोई जानवर अपनी जानवरी से करता हो। गृहस्थ का सर्वश्रेष्ठ सुख यही है कि गृहस्थ की घर वाली उससे स्नेह करे। उसके सुख-दुःख में सुखी-दुखी हो, बाहर से आने पर दो मीठी बात कहे, दुःख में धैर्य बँधावे, उत्सवों में उत्साह दिखावे, राग रंग मचावे। उस हाथी की हथिनियाँ ऐसी ही थीं। गजराज पहाड़ के समान ऊँचे डील-डौल का था। सैकड़ों हथिनियाँ हजारों पुत्र-पौत्र, उसको चारों ओर से घेर कर चल रहे थे। उन सबसे घिरा हुआ वह ऐसा प्रतीत होता था, मानों साक्षात् नीलांजन पर्वत अपने छोटे-बड़े शिखरों के साथ सजीव होकर जा रहा हो। समीप ही एक सरोवर था, जिसमें कमल खिले हुए थे, जल-पक्षी किलोल कर रहे थे। उसका नीला जल स्फटिक मणि के समान स्वच्छ था। तीर पर चन्दन, देवदारु आदि के वृक्ष थे। अपने समस्त परिवार को लिये हुए वह निर्भय होकर सरोवर में घुस गया। अब तो होने लगी जलक्रीड़ा। कभी अपनी सूँड़ में जल भरकर किसी हथिनी पर डालता, कभी किसी को पकड़ कर जल में डुबाता, किसी को स्वयं नहलाता, किसी का बदन सुहलाता, किसी को विचित्र मुँह बनाकर रिझाता, किसी को सूँड़ उठाकर खिजाता, किसी के मुँह में अपनी सूँड़ डालकर हठ-पूर्वक उसे पानी पिलाता, किसी को अपनी बोली में कुछ गाकर सुनाता।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप बुरा न मानें। आपकी यह शैली हमें पसन्द नहीं है। अब आप कथा न कह कर नाटक का सम्वाद कहने लगे। कविता-सी करने लगे। जैसे आप पहिले कह रहे थे वैसे ही कहिये।"

इस पर उदास मन से सूतजी बोले—"अरे, मुनियो ! तुम

सब बड़े शुष्क हृदय के हो। मैं कितने उत्साह से कथा कह रहा था। तुमने बीच में टोक कर मेरा उत्साह भंग कर दिया। हम लोग ठहरे कथा-वाचक। जिस समय श्रोता की जैसी रुचि देखते हैं, वैसी ही कथा कहने लगते हैं। किन्तु आप लोग सब बड़े गम्भीर हैं, हँसी-विनोद पसन्द नहीं करते। अच्छी बात है, मैं अब केवल नाम ही गिनाये देता हूँ। संक्षेप में ही टरकाये देता हूँ, शीघ्रता में सुनाये देता हूँ।"

इस पर शीघ्रता से शौनकजी बोले—"नहीं-नहीं सूतजी! हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि आप कथा संक्षेप में कहें। खूब विस्तार करें, अपनी रुचि से कहें, उत्साह भङ्ग न करें। किन्तु उसने उसकी ठोढ़ी में मारा, उसने उसके हनु में मारा, उसने यह मारा, वह मारा, यह लटका, वह भटका, इत सटका, उत भटका, इन लच्छेदार बातों को कुछ कम कहें फिर आपकी जैसी इच्छा। हमने तो इसलिये कहा कि अवतार-कथा को तनिक गम्भीरता के साथ कहना चाहिये।"

सूतजी बोले—"यहाँ मैं विस्तार से नहीं कहूँगा। इस स्थल पर तो ब्रह्माजी ने नारदजी को केवल अवतारों की सूची मात्र ही बताई है। उस सूची का विस्तार बारहों स्कन्धों में समस्त भागवत में है। इसलिये यहाँ मैं सूची सुना कर सब का विस्तार से वर्णन आगे करूँगा।"

हाँ तो सरोवर में गज को ग्राह ने पकड़ लिया फिर उसने अपनी सूँड़ में कमल लेकर स्तुति की। उसी समय हरि भगवान् दौड़कर आये। चक्र से नक्र का वक्त्र काट कर उसका उद्धार किया। इन भगवान् का नाम हरि था। ये हरि भगवान् तामस मन्वन्तर में हरिमेधा नामक ऋषि की हरिणी नामक भार्या से उत्पन्न हुए थे। इन हरि के अतिरिक्त एक और भी हरि अवतार हुए हैं। उनका जन्म रुचि प्रजापति की भार्या दक्षिणा के गर्भ

से हुआ। उन्होंने सुयाम नामक देवताओं के गण को उत्पन्न किया। उन्होंने त्रिलोकी का महान कष्ट हरा था। इसीलिये ये हरि कहाये।

ऋषियो! प्रजापति कर्दम की देवहूति नामक भार्या से नौ कन्या उत्पन्न होने के अनन्तर भगवान् कपिल रूप से प्रकट हुए, जिन्होंने अपनी सगी माता को ही चेली बनाकर तत्त्व का मोक्ष-कारी उपदेश दिया।

अत्रि भगवान् की पत्नी ने भगवान् को पुत्र रूप में माँगा तो भगवान् ने कहा—"दत्त—जाओ दिया।' इसीलिये दत्तात्रेय अवतार अत्रि पत्नी अनसूया के यहाँ हुआ, जिन्होंने सहस्रार्जुन और यदु आदि राजाओं को राजसुख भोगते हुए भी योग की सम्पूर्ण सम्पत्ति दे डाली। वे ही भगवान् कल्प के आदि में सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन रूप में सदा नंग-धड़ंगे ही घूमने वाले बनकर बाल रूप से प्रकटे। जब देखो तभी पाँच वर्ष के बने रहते हैं। फिर धर्म की पत्नी मूर्ति देवी में नर-नारायण रूप से प्रकट होकर प्रभु बदरीवन में रहने वाले, क्रोध को जीत कर तपस्या करने वाले युग्म मुनि बने, जिन्होंने इन्द्र की भेजी अप्सराओं पर भी क्रोध न किया, किन्तु अपनी उरु से त्रैलोक्य सुन्दरी उर्वशी को उत्पन्न करके सत्कार स्वरूप इन्द्र के लिये स्वर्ग की शोभा बढ़ाने को उसे दे दिया। बालक ध्रुव की तपस्या से प्रसन्न होकर विष्णु ने उन्हें दर्शन देकर नित्य ध्रुवलोक का स्वामी बना दिया। उत्पथ गामी बेन को जब मुनियों ने मिल-कर मार डाला तो उसी के शरीर मन्थन से पृथ्वीपाल रूप में पृथु भगवान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने नरक में गये अपने पिता का ही उद्धार नहीं किया, किन्तु समस्त पृथ्वी का ही उद्धार कर दिया। संसार की काया पलट कर दी, पृथ्वी पर ग्राम, नगर, पुर,

पत्तन बसा दिये, जिनमें बिना चुनाव की चहल-पहल के नगर समितियाँ अपना काम काज करती थीं।

फिर महाराज नाभि की सुदेवी नामक पत्नी से परमहंस रूप में श्री ऋषभदेव भगवान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने त्याग का महत्त्व प्रकट किया। फिर ब्रह्माजी के यज्ञ में यज्ञ रूप से भी भगवान् का एक अवतार हुआ, जिनकी ग्रीवा से ऊपर का भाग घोड़े के आकार का था। इसीलिये वे 'हयग्रीव' कहलाये, जिनके स्वांस लेते समय दोनों नासिका के पुटों से वेदों के वाक्य प्रकट होते थे। फिर भगवान् का बड़ा भारी मत्स्यावतार हुआ, जिसने प्रलय-सागर में घूमते-घूमते असुर के द्वारा हरे हुए वेदों का उद्धार किया। अमृत मन्थन के समय एक द्वीप के आकार के भगवान् बड़े भारी कछुआ बन गये। जिनकी पीठ पर रूई की तरह घर-मर्र शब्द करके घूमता हुआ मन्दराचल ऐसे ही प्रतीत होता था, मानों चींटी रेंग रही हो। अथवा कोई सोते समय पैरों को सुहरा रहा हो अथवा कहीं खुजली हुई हो तो उसे दिव्य अम्बर की सहायता से कोई खुजा रहा हो। उस महा पर्वत की सुहलाहट से जल में ही कछुआ भगवान् को नींद-सी आने लगी और मीठी-मीठी झपकियाँ लेने लगे। एक समय हिरण्य-कशिपु की सभा में बिना माता-पिता के पत्थर के खम्भ में से ही प्रकट हो गये। वह भी साधारण वेष से नहीं, धड़ तो मनुष्यों का-सा और सिर सिंह के समान, इसीलिये वे नृसिंह के नाम से प्रसिद्ध हुऐ। उन्होंने अपने तीक्ष्ण नखों से उस दुष्ट दैत्य-राज का पेट फाड़ उसकी अन्तड़ियों की माला से अपने गले की शोभा बढ़ाई। मुनियो! उस भयङ्कर रूप को देखकर देवता भी डर गये। दूर से ही दंडवत् करने लगे और की तो बात क्या, लक्ष्मी जी भी घबड़ा गयीं। जिन्होंने गज को ग्राह से बचाया। उन हरि भगवान् की चर्चा तो मैं सर्वप्रथम कर ही

चुका हूँ। अपने परमभक्त दैत्यराज बलि को छलने को भगवान् ने कपट वामन बालक का विचित्र वेष बनाया। बलि की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। आकाश-पाताल के कुलाबे एक करके मिला दिये। दैत्यराज आ गया इनके चक्कर में और अपना राज्य-पाट खो बैठा। ये उसी प्रकार बढ़ने लगे जैसे वैशाख ज्येष्ठ की दोपहरियों में बवण्डर के भीतर से भूत बढ़ता है। बेचारा बलि क्या करता ? जब भिखारी बनकर हाथ फैला दिया, सबसे नीचा कर्म याञ्चा को विश्वेश्वर ने स्वीकार कर लिया तो वे प्रसन्नता से बँध गये। धर्मात्मा पुरुष भी भिखारी से डर जाते हैं। जैसे-तैसे उससे अपना पिण्ड छुड़ाते हैं। इसी प्रकार महाराज बलि ने अपना राज्य-पाट ही देकर पिण्ड नहीं छुड़ाया, अपना शरीर और सर्वस्त्र समर्पण करके सदा के लिये संसार सागर से पिण्ड छुड़ा लिया। वे भगवान् की दुस्तर माया को भी बात-की-बात में सरलता से तर गये।

एक बार नारदजी के बढ़े हुए भक्ति भाव से प्रसन्न होकर हरि ने हंस का रूप धारण करके सत्यलोक में उस भागवत तत्त्व का उपदेश दिया जिसके द्वारा भक्तजन भगवान् वासुदेव की निर्मल भक्ति प्राप्त कर संसार सागर से सरलता के साथ सुखपूर्वक तर जाते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर में ही मनुरूप से प्रकट होकर समस्त मन्वन्तर के समय तक अपने तीक्ष्ण धार वाले सुदर्शन चक्र को धारण करते हुए निष्कंटक शासन करते हैं और अपने बल पराक्रम से पापी, अनाचारी, अधर्म परायण दैत्यों का दमन करते हुए अपनी कमनीय कीर्ति से सातों लोकों को शुभ्र बना देते हैं। सर्वत्र अपना स्वच्छ यश फैला देते हैं। मुनियो ! मैंने जो समुद्र-मन्थन के समय कच्छपावतार की बात बताई थी, उसी समय समुद्र में से अमृत लेकर धन्वन्तरि रूप में भगवान् प्रकट हुए जो पीयूषपाणि हैं। उन्हीं से रोगों की चिकित्सा सीख-

कर बहुत से मनुष्य भी चिकित्सक बन गये, जो वैद्य, भिषक्, चिकित्सक के नाम से संसार में प्रसिद्ध हैं। पहिले वैद्यों को यज्ञ में भाग नहीं मिलता था। इन भगवान् ने ही वैद्यों को यज्ञ में भाग दिलाया। जब क्षत्रिय स्वधर्म को छोड़कर पाप कर्मों में प्रवृत्त हो गये तब भगवान् ने परशुराम रूप धारण करके २१ बार पृथ्वी के समस्त दुष्ट क्षत्रियों का संहार करके पृथ्वी को निः-क्षत्रिय बना दिया।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी ! अब तो आप घास-सी काटने लगे। इतनी शीघ्रता उचित नहीं। हम यह मानते हैं आप पूरी अवतार-कथा नहीं सुना रहे हैं। केवल सूची निर्देश कर रहे हैं। फिर भी ऐसो क्या सूची, कुछ विस्तार से कहिये। इस ढंग से कहें कि भगवच्चरित्रों को सुनकर हृदय में कुछ करुणा उत्पन्न हो, रुद्ध हुए स्नेह का स्रोत खुलने लगे। कुछ प्रेम का पुट देते हुए, किसी लीला की ओर संकेत करते हुए कहें।"

सूतजी दुखित होकर बोले—"क्या बतावें, महाराज ! यह कथा कहने का काम भी ऐसा कठिन है कि किसी प्रकार श्रोता को प्रसन्न ही नहीं कर सकते। जब मैं कुछ विस्तार से कह रहा था, तब तो आपने कहा—यह तो तुम लच्छेदार नाटकी संवाद-सा सुना रहे हो। जब मैंने संक्षेप किया तो अब आप कहते हैं घास-सी काट रहे हो। इसी से कहता हूँ भगवान् किसी को कथावाचक न बनावे। यदि बनना ही हो तो गृहस्थों को कथावाचक बनावे, जो चुपचाप सुनते रहते हैं। इन साधुओं का रुख ही मालूम नहीं पड़ता, जाने किस समय क्या सुनना चाहते हैं ?"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"अजी, सूतजी ! आप बुरा मान गये क्या ?"

सूतजी हँसते हुए बोले—"नहीं, महाराज ! बुरा मानने की क्या बात है। मेरे कहने में ही कोई दोष है।"

इस पर शौनकजी बोले—"नहीं, सूतजी ! आप बड़ी ही सुन्दर कथा कहते हैं। आपका स्वर, आपकी शैली, आपकी समझाने की शक्ति सभी सुन्दर है। हमारा अभिप्राय उतना ही है कि कुछ विस्तार से कहें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! अब मैं उस ढङ्ग से कहूँगा, जिस ढङ्ग से ब्रह्माजी ने श्रीनारदजी से यह प्रसङ्ग कहा है। जिस समय यह नारद-ब्रह्मा-सम्वाद हुआ था, तब सत्ययुग था। जिन अवतारों का मैंने वर्णन किया है, वे सब तो तब तक हो चुके थे, उस समय परशुराम अवतार वर्तमान था। वे सभी क्षत्रियों का संहार कर रहे थे। इसीलिये ब्रह्माजी ने उनके लिये वर्तमान क्रिया का प्रयोग किया है। श्रीराम कृष्ण आदि अवतार होने वाले थे, उनके लिये भविष्य की क्रिया दी है कि ये अवतार होंगे, ऐसी-ऐसी लीलाएँ करेंगे। अब मैं उन्हीं के कथनानुसार शेष भविष्य अवतारों का वर्णन करता हूँ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भविष्य अवतारों की लीलाओं का वर्णन जैसे किया, जो हुई ही नहीं उनका वर्णन कैसा ?"

बड़े जोरों से हँसते-हँसते सूतजी बोले—"महाराज ! कभी-कभी तो आप बच्चों के-से प्रश्न पूछ देते हैं। आप तो स्वयं त्रिकालज्ञ हैं। कलियुग में होने वाले अधर्म और पापों को आप अभी से अपनी दिव्य दृष्टि से कैसे देख लेते हैं। फिर ब्रह्माजी के लिये तो काल का भेद ही नहीं। श्रीसीताजी को ढूँढ़ने के लिये श्रीहनुमान् प्रभृति वानर गये थे, समुद्र तट पर बैठे-बैठे वे सोच रहे थे—श्रीसीताजी कहाँ है, क्या कर रही हैं, उन्हें हम कैसे पायेंगे ? उनके लिये सीताजी का समाचार भविष्य के गर्भ में

छिपा था। किन्तु शैल-शिखर पर बैठा हुआ सम्पाती वहीं से सीताजी के सभी समाचार जान रहा था। उनके दर्शन कर रहा था, उसके लिये उनके सभी चरित्र वर्तमान थे। भूत, भविष्य और वर्तमान भेद तो बुद्धि कृत है। आप जिसे वर्तमान कहते हैं, वही किसी के लिये भविष्य है। आप जिसे भूत कहते हैं, वह किसी के लिये वर्तमान है, काल नित्य है, भगवान् नित्य हैं, उनकी लीलायें नित्य हैं, ब्रह्माजी सर्वज्ञ हैं, अतः उनके लिये सृष्टि में कुछ भी भूत भविष्य नहीं, सभी वर्तमानवत् हैं। उपचार के लिये वे नारदजी से भविष्य में ऐसा होगा, इस प्रकार कह रहे हैं। वास्तव में तो वे उन घटनाओं को प्रत्यक्ष अपने भाव-जगत में होती हुई देख रहे हैं।"

सूतजी की बात सुनकर शौनकजी प्रसन्न हुए और बोले—"हाँ, तो सूतजी! अब आप शेष अवतारों के संक्षिप्त चरित्र सुनाइये। विस्तार से तो आगे आप उसी क्रम से सुनावेंगे ही जिस क्रम से परमहंस श्रीशुक ने महाराज परीक्षित् को सुनाये हैं। शौनकजी के कहने पर सूतजी शेष संक्षिप्त चरित्रों को कहने के लिये उपक्रम बाँधने को उद्यत हुए।"

छप्पय

हैं अपार पर पुरुष पार नर कैसे पावें।
का लै पूजा करें, कौन-सी वस्तु चढ़ावें॥
श्रीपति सबके ईश, कोटि ब्रह्माण्डनि नायक।
मन बानीतें परे चरित कस गावैं गायक॥
सहसबदन श्रीशेषजी, सृष्टि आदि तें अन्त तक।
करें गान गुणगननिको, पार न पायो अब तलक॥

श्रीराम कृष्णावतार

(६१)

यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ॥*

(श्री० भा० २ स्क० ६ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

मधुर मूर्ति रघुनाथ साथ सीता सुकुमारी।
अनुपम जोरी सुघर मनोहर अतिशय प्यारी ॥
कैसी हियहर चलनि उठनि चितवनि बर बोलनि।
नंगे पग ते कठिन अवनि पै बन-बन डोलनि ॥
मनुष सरिस क्रीड़ा करी, करुणाकर कीन्हें चरित।
तिनकूँ गावत सुनत अति, नर नरिनिको होइ हित ॥

सूतजी बोले—"मुनियो ! कच्छ, मत्स्य, वाराह, हंस, नृसिंह, हयग्रीव आदि-आदि उन्हीं अखिलेश्वर प्रभु के अवतार हैं। सभी अवतार पूजनीय, वन्दनीय और स्तवनीय हैं। यह सब होते हुए भी श्रीराम की लीलायें जितनी मधुर हैं, जितनी चित्ताकर्षक हैं, वैसे और भी अवतारों की हो सकती हैं। मैं उन सर्वान्तर्यामी परिपूर्णप्रभु के अवतारों में भेद-बुद्धि करके बड़े छोटे का विभाग

---

* श्रीब्रह्माजी नारदजी से कहते हैं—"नारदजी ! हम उन श्रीभगवान् को बारम्बार प्रणाम करते हैं, जिनकी अवतार लीलाओं का हम केवल गान तो करते हैं, किन्तु उन्हें तत्वतः जान नहीं सकते।"

करके–पाप का भागी क्यों बनूँ ? किन्तु मुनियो ! भगवान् कौशलेन्द्र की-सी कमनीयता, उनका जैसा सौन्दर्य, माधुर्य मुझे तो कहीं दिखाई देता नहीं । वे प्रेम के घनीभूत विग्रह हैं, आनन्द की राशि हैं, शोभा के धाम हैं, सौन्दर्य के अर्णव हैं, गुणों के सागर हैं, माधुर्य-निचय हैं । अहा ! कैसा उनका भोलापन है, नेत्र कितने लजीले हैं । दृष्टि उठाकर ऊपर भी नहीं देखते, कितना शील, कितना सदाचार, कैसी सरलता, कैसी भक्तवत्सलता है उन विदेह राजकुमारी के हृदय सर्वस्व में । ऐसी सौम्यता, ऐसी सुघरता, इतनी मर्यादा आज तक न किसी दूसरे अवतार में हुई और न होगी । मुनियो ! नारदजी के सम्मुख अवतारों का वर्णन करते हुए लोक पितामह ब्रह्माजी ने जिस प्रकार श्रीरामजी से परवर्ती अवतारों का वर्णन किया है, उसे ही मैं आप सबके सम्मुख वर्णन करूँगा ।"

ब्रह्माजी अपने पुत्र नारदजी से कहने लगे—"वत्स ! अब आगे इक्ष्वाकु वंश में अपनी कलाओं के सहित मायापति भगवान् दशरथतनय होकर भाग्यवती जगद्वन्द्या श्रीकौशल्याजी के गर्भ से अवतार लेंगे । उनके अवतार का प्रधान हेतु होगा–भक्तों के ऊपर अनुग्रह करना । मुनियो ! राघव कितने दयालु हैं, उनके यहाँ ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं । वे महाज्ञानी, सर्व-शास्त्र विशारद, गुरुओं के भी गुरु, वेद-शास्त्रों में पारङ्गत, भगवान् वसिष्ठ से भी मिलते हैं और उसी स्नेह, उसी भाव और उसी अनुग्रह के साथ निषादराज गुह को भी गले लगाते हैं । वे ससुराल में परमज्ञानी, परम विरागी, सम्पूर्ण-ऐश्वर्य-पूर्ण महाराज विदेह श्रीजनक की पत्नियों–अपनी सासों के हाथ के बनाये हुए नाना प्रकार के व्यञ्जनों को भी पाते हैं और उसी चाव से उसी उल्लास से, वहाँ से भी अधिक स्नेह के साथ जङ्गली भील की पुत्री भीलिनी के लाये हुए सूखे, जूठे बेरों को भी उसी स्वाद

से खाते हैं। वे सप्तद्वीपवती वसुन्धरा के स्वामी, अनेकों राजसूय अश्वमेध यज्ञों को करने वाले, देवराज इन्द्र के साथ आधे आसन पर बैठने वाले, ऋषि-महर्षियों से भी सम्मान पाने वाले अपने पिता महाराजाधिराज दशरथजी की भी नम्रतापूर्वक श्रद्धा के सहित सेवा करते हैं। उसी भाव से नहीं, उससे भी बढ़कर स्नेह प्रदर्शित करते हुए मांसभोजी, लोकनिन्दित, समस्त पक्षियों में अधम, साधारण अधम नहीं इतना अधम की जिस घर पर वह बैठ जाय, उसका फिर से संस्कार कराना पड़े–ऐसे गीध को भी गोद में बिठाकर अपनी जटाओं से उसकी धूलि झाड़ते हैं। पुत्र जैसे पिता का तर्पण आदि करता है, उसी प्रकार उस अधम योनि वाले पक्षी का पिता के सदृश क्रिया-कर्म करते है। सौन्दर्य की खान, सुशीलता के अवतार, कोमलता भी जिनकी कोमलता को देखकर लज्जित होती है, वे प्रेमावतार पैरों में पड़े अपने अनुज भरत को जिस स्नेह से, जिस प्यार-दुलार से उठाकर छाती से चिपटाते हैं, उससे भी अधिक प्यार से जङ्गली, चञ्चल बड़े-बड़े नखों वाले लाल-लाल मुख वाले, बड़ी-बड़ी दाठों वाले, सम्पूर्ण शरीर पर रूखे-रूखे बालों वाले हनुमत्-प्रभृति वानरों को भी अपने हृदय से लगाकर स्नेह दान देते हैं। उनसे भी कहते हैं—तुम मुझे भरत से भी अधिक प्यारे हो। वत्स, नारद ! श्रीराम की बराबर दयालुता जगत् में ढूँढ़ने पर भी कहाँ मिलेगी ? उनकी बराबर समता संसार भर में खोज आइये दुर्लभ है, असम्भव है, अभूतपूर्व है।

"हाँ, तो वे ही भगवान् सरयूतट पर अयोध्यापुरी में अवतार ग्रहण करेंगे। पिता की आज्ञा से अपने छोटे भाई लक्ष्मण और अपनी प्राणप्रिया वैदेही के साथ वन को जायँगे। वहाँ दशमुख रावण उनकी प्राणों से भी प्यारी पत्नी को छल से हर ले जायगा इस पर क्रुद्ध होकर अपनी शरणागत वत्सलता दिखाते हुए

सीताजी की खोज करावेंगे और फिर बड़ी भारी वानरों की सेना को सजाकर, समुद्र का सेतु बाँधकर उस पार लङ्का में पहुँच जायँगे। तब वह दशशीश और भुजबीस वाला बली रावण उनसे लड़ने आवेगा, जिसकी छाती में ऐरावत हाथी के दाँतों के लगने से गड्ढे-से पड़ रहे हैं। उसी को ये अपने तीक्ष्ण बाणों से मारकर परलोक पठा देंगे। अपने यश से संसार को भर देंगे और रोती हुई, दुखी, पति-वियोग से कृश बनी अपनी प्राणप्रिया के आँसुओं को अपने कमल से भी कोमल करों से जाकर पोछेंगे और पूछेंगे—"प्रिये! तुम मुझे याद करती थी क्या? मैं तो निरन्तर तुम्हारा ही ध्यान करता रहता था।"

"इसके अनन्तर हे नारद! जिस समय पृथ्वी दैत्य-दानवों के द्वारा अत्यन्त पीड़ित की जायगी, उस समय उसका भार उतारने के लिये तो वे अपने काले सफेद केशों से क्रमशः कृष्ण और बलराम के रूप में उत्पन्न होंगे और साक्षात् श्रीकृष्ण रूप में स्वयं भी प्रकट होंगे। अर्थात् पृथ्वी का भार उतारने को तो उनका एक बाल ही पर्याप्त है, अतः अपनी कला के द्वारा उन दुष्कर्म करने वाले दैत्यों को मारकर तो पृथ्वी का भार उतारेंगे और अपने आप ऐसे कर्म करेंगे कि उन्हें समझना मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात होगी। यह अवतार नारदजी, ऐसा होगा कि न उसके सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है, न सोचा जा सकता है।"

नारदजी बोले—"पिताजी! अभी-अभी तो आप कह रहे थे कि श्रीरामावतार ही अभूतपूर्व अवतार है। इतना सौम्य, सरल, सुन्दर, सदाचार-पूर्ण, सत्य में स्थित शरणागत वत्सल सर्वसमर्थ, सर्वगुण सम्पन्न अवतार न भूतो न भविष्यति। अब आप श्रीकृष्णावतार के सम्बन्ध में भी वैसी ही बातें कहने लगे?"

नारदजी की ऐसी बात सुनकर ब्रह्माजी के नेत्रों में जल भर

आया और वे बोले—"नारद, भगवान के सभी अवतार एक-से-एक श्रेष्ठ हैं, सभी परिपूर्ण हैं, सभी सुन्दर हैं, सभी अवाङ्मनस गोचर हैं। फिर भी इन सब में श्रीराम और श्रीकृष्ण ये दोनों ही प्राणियों के लिये अत्यन्त आनन्द देने वाले हैं। दोनों एक ही परात्पर के पूर्णावतार होने पर भी इनमें आकाश पाताल का-सा दिन-रात्रि का-सा, सरदी-गरमी का-सा, स्त्री-पुरुष का-सा भेद है। श्रीरामजी की लीलाओं का तो कहना ही क्या, एक-से-एक सुन्दर लीला की है, किन्तु इनकी तो कुछ पूछिये ही नहीं। कौशलेन्द्र की लीला के सर्वथा विरुद्ध हैं इन महात्मा की लीलाएँ। अनुकरणीय और शिक्षापूर्ण लीलायें तो श्रीदशरथकुमार की ही हैं इनका तो कुछ पता ही नहीं चलता, स्वयं टेढ़े, इनकी लीलायें भी टेढ़ी, इनकी चाल-ढाल, हँसन-बोलन, सब टेढ़ी ही मेढ़ी हैं। इसीलिये नारद! मैं सबको सावधान किये देता हूँ कि जिन्हें पूजा करनी हो, उपासना करनी हो—श्रीराम भगवान् की ही करें। प्रेम करना हो तो श्रीसीताराम महाराजाधिराज की जुगल जोड़ी से ही करें। इन टेढ़े देवता की ओर भूल से भी न देखें, क्योंकि जिसने इन्हें एक बार देखा, फिर उसे ये नङ्गा कर देते हैं। बिना इच्छा के बलपूर्वक चोरी से उसके वस्त्र लेकर भाग जाते हैं। साधक चाहे, या न चाहे—उसे अपनी ओर खींच लेते हैं। हठपूर्वक दास ही बना लेते हों सो बात नहीं, उसके नाक-कान छेदकर चूड़ी बिछुआ पहिनाकर, लोग से लुगाई बना देते हैं। इसलिये भैया! इन टेढ़ी टाँग वाले मोर मुकुटधारी को दूर से ही दण्डवत् कर देनी चाहिये और महाराजाधिराज, चक्रवर्ती, ब्रह्मादिक देवताओं के भी पूजनीय, मर्यादा के अवतार भगवान् कौशलाधीश की शरण में जाना चाहिये। कहाँ एक सिंहासनासीन सम्राट् कहाँ गौओं के पीछे वन-वन में फिरते रहने वाला एक ग्वाला। सभी बातें तो इनमें विपरीत हैं।

"श्रीरामचन्द्रजी कितने सौम्य हैं। हरी मखमल की पोशाक पहिने, धनुष-बाण चढ़ाये, पीताम्बर की धोती पहिने स्वर्णमण्डित किरीट-मुकुट पहिने, जब लज्जा के साथ पृथ्वी की ओर देखते हुए चलते हैं तो हृदय पिघलने लगता है। देखो, कैसी मर्यादा है, मानों आँख उठाकर ऊपर देखना जानते ही नहीं। और इन ग्वालों को देखो महाचञ्चल, चलेंगे पूर्व तो देखेंगे पश्चिम। आँखों ही आँखों में बातें कर जायँगे। भौंह और पलकों से संकेत में ही सब बता जायँगे, न लाज, न शरम। न गाँव की बहू-बेटी का लिहाज, न सगे सम्बन्धियों का। चलेंगे तो धुआँधार मचाते चलेंगे। जिधर निकल जायँगे, उधर ही हल्ला मच जायगा। जैसे समुद्र से ज्वार-भाटा आता है, वैसे ही स्त्री-पुरुष बाल-बच्चों में इनके आगमन से एक प्रकार का तूफान-सा उठ खड़ा होगा।"

"श्रीरामचन्द्रजी कैसे सरल हैं। जब कोई कुछ देता है, प्रेम से पूजा करके इनके सामने नैवेद्य अर्पण करता है तो उसी प्रकार धीरे-धीरे छोटे-छोटे ग्रासों से खाते हैं, जिस प्रकार दूल्ला अपनी साली, सरहज और सास के सामने लजाते हुए चौंग-चौंगकर थोड़ा-सा खाता है और इनकी तो कुछ पूछो ही मत। इन अहीर को देने तो लगा ही कौन ? जबरदस्ती छीनकर खाते हैं। जल्दी-जल्दी कुछ खाया, कुछ मुँह में लपेटा, कुछ फेंका, कुछ बाँटा और बहुत-सा बन्दर की तरह मुँह में भरा और जूठे मुँह ही भाग गये, न शील न सङ्कोच।"

"अब रही सुन्दरता की बात, सो इस सम्बन्ध में तो नारद जी मैं कुछ कह नहीं सकता, क्योंकि यह तो अपनी-अपनी रुचि के ऊपर है किसी को कोई सबसे सुन्दर प्रतीत होता है वही दूसरे को असुन्दर लगता है। इसलिये दोनों में सुन्दर कौन

है, इसका निर्णय तो भक्त महानुभाव अपने आप ही करें। हाँ, सदाचार की बात है। देखो, श्रीरामजी कैसे सदाचारी हैं। भगवती जगज्जननी मैथिली के अतिरिक्त उनके लिये सभी बड़ी स्त्रियाँ कौशल्या माँ के समान है, बराबर को बहिन शान्ता के समान हैं और छोटी अपनी सगी पुत्रियों के समान हैं। नारदजी ! तुम्हारी तो ससुराल ही कहीं नहीं, अब तुम्हें मैं कैसे समझाऊँ ? नहीं तो ऐसा होता है कि जिस गाँव में अपनी ससुराल होती है, उस गाँव में जितने भी युवक-युवती, नर-नारी होते हैं, वर से अपना वही नाता मानकर सभी हँसी दिल्लगी करते हैं। और वह भी अपनी ससुराल के सभी बराबर वालों और गाँव के नाते से सम्बन्ध वालों से हास्य-परिहास्य करने का अधिकारी होता है। किन्तु ये हमारे कौशल्यानन्द-वर्धन जब कभी ससुराल में भी जाते हैं तो अपनी सास के ही पास बैठे रहते हैं। साली सरहज आ-आकर छेड़खानी करती हैं तो ये उनकी ओर दृष्टि भी नहीं उठाते, उत्तर देना तो अलग रहा। तब महाराज विदेह की राजरानी उनको डाँटते हुए कहती हैं— "लड़कियो ! क्यों मेरे लल्लाजी को तङ्ग कर रही हो ? तुम्हें हँसी-दिल्लगी करनी हो तो लक्ष्मण के पास जाओ। मेरे रामलाल तो बोलना ही नहीं जाहते।" यह तो उनका ससुराल का सदाचार है और इन श्रीकृष्ण मुँहफट्ट को जब देखो, तभी हा-हा हू-हू अपने घर में, गाँव घर की बहू लड़कियों के साथ। कोई एक कहे तो उससे दश कहें। कोई इन्हें एक गाली दे तो ये उसे हजार दें। कोई इन्हें छेड़े तो ये उसके ऊपर चढ़ बैठें। कुछ पूछिये मत, ऐसा भी क्या अवतार ? अवतार क्या है, आफत का पुतला है।"

"अब सत्य की भी बात सुनो। रामजी कितने सत्य-परायण हैं। दशरथजी ने अपने मुँह से नहीं कहा कि तुम वन को

जाओ। कैकेयी से मुख से सुनते ही चले गये। लक्ष्मणजी ने कुछ उलटी-सीधी बातें कहकर उन्हें जाने से रोकना चाहा तो उन्होंने मेघ गम्भीर वाणी से कह दिया—"रामो द्विर्नाभिभाषते, राम कभी झूठ नहीं बोलता। जो वाणी एक बार मुख से निकल गई, श्रीराम का बाण और वाणी दुबारा बदली नहीं जाती।" इधर इन चोर-जार-शिखामणि की बात सुनिये। अकेले में भी नहीं, सबके सामने मिट्टी खाई और जब माता ने छड़ी लेकर पूछा—"क्यों रे, तूने मिट्टी खाई तो बड़े साँचाधारी की तरह छाती फुलाकर कहने लगे—"ये सब-के-सब झूठे हैं। अम्मा! मैंने मिट्टी छुई तक नहीं, इसी का नाम है चोरी और सीनाजोरी। रोज छिपकर बरसाने की ओर जाते। माता पूछती—"क्यों रे, तू बरसाने की ओर जायो करै का। दारी के अबई पक्की सगाईऊ नाहिँ भई।" तब आप दृढ़ता के साथ कह देते—"अम्मा! मैं तो बरसाने की गैल भी नहीं जानता। अब बताइये, यह तो झूठ की पराकाष्ठा हो गई। अपनी सगी माँ से भी सफेद झूठ।"

"अब रही शरणागत-वत्सलता की बात, सो श्रीरामजी इसके लिये संसार में प्रसिद्ध हैं। रावण के कुछ दूत बन्दर बनकर श्रीराम की सेना में घुस आये। सेनापति वानरों ने उन्हें पकड़ लिया। मारते-पीटते श्रीरामजी के पास ले गये। भगवान् ने दयावश, करुणा के वशीभूत होकर तुरन्त कहा—"इन्हें छोड़ो, छोड़ो। कैसे भी सही, कपट से ही क्यों न हो, इन्होंने वानर का रूप तो बनाया है। वानर हमारी शरण हैं, अतः इन्हें दण्ड देना उचित नहीं।" शत्रु का सगा भाई ठीक लड़ाई के समय आया। सभी सेनापति उसे रखने के विरुद्ध थे, किन्तु श्रीरामजी ने ललकारकर कह दिया—"जो एक बार मेरी शरण में आ गया

जिसने एक बार कैसे भी कह दिया मैं तुम्हारा हूँ, बस उसे मैं प्राणिमात्र से अभय बना देता हूँ।" कहाँ तो इतनी करुणा, इतनी भक्त-वत्सलता, इतनी शरणागत-प्रतिपालकता और कहाँ इन अहीर की निष्ठुरता। पूतना माँ बनकर आई थी, उसे भी मार डाला। मान लो मारकर सुगति ही दे दी तो प्राण तो हरे ही। अपने प्राण सभी को प्यारे होते हैं। अतः यह मात्रिद्रोह हुआ। एक असुर गोप का वेष बनाकर आया, उसे गोपों से छाँटकर मरवा दिया। यह सरासर सखा-द्रोह है। एक असुर बछड़ा बन करके बछड़ों में आ मिला। उसकी पूँछ पकड़कर ऐसा घुमाया कि घूमते-घूमते ही मर गया। यह शरणागत के साथ विश्वासघात ही नहीं, गोहत्या भी है। तुम कहोगे—"रामचन्द्रजी ने भी तो मारीच को मारा था, सो उसने मृग का रूप बनाया था। मृग राजा का वध्य है। फिर वे उसे पकड़ना ही चाहते थे, वह मरना चाहता था, इसलिये रामजी ने अपनी इच्छा का परित्याग किया। उसकी इच्छा पूरी की। इनको देखो, उस धोबी ने इनका क्या बिगाड़ा था ? दूसरों के कपड़े धोकर ले जा रहा था, तुम उससे कहते हो–हमें कपड़े दे दो। क्यों दे, दे जी तुमको ? ऐसे दूसरों के कपड़े बाँटते फिरें तो हो गया धोबीपन। यदि तुम बली हो तो हम कंश को दिये आते हैं, उससे लड़कर छीन लेना। हम गरीबों को क्यों सताते हो, हम निर्बलों पर अपना बल क्यों अजमाते हो। किन्तु सुने कौन ? यहाँ तो अन्धेर नगरी है। 'अन्धेर नगरी अनबूझ राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा।' एक तमाचे में ही उसे मार डाला और चौराहे पर ही वे पुराने–दूसरों के पहिने-कपड़े छीन लिये। यह दास-द्रोह हुआ। मामा, पिता के समान होता है। उसे मार ही नहीं डाला, चोटी पकड़-कर खींचते-खींचते उसे यमुनाजी तक ले गये। तुम कहोगे, श्रीरामजी ने भी तो ब्राह्मण-पुत्र रावण को मारा था। सो एक तो

वह राक्षस था, दूसरे आततायी था, तीसरे उसने बड़ा भारी अपराध किया, श्रीराघव की प्राणप्रिया को हर ले गया। साधारण पुरुष की भी स्त्री की ओर कोई कुदृष्टि से देख ले तो मनस्वी लोग उसकी आँख निकाल लेते हैं। सो, वह तो काम-भाव से ले गया था और १० महीने अपने यहाँ रक्खा, भाँति-भाँति की यातनायें दीं। इतने पर भी कृपासागर राघवेन्द्र ने कह दिया-वह आकर शरण ले तो हम उसके सब अपराध क्षमा कर देंगे। किन्तु वह तो मरना चाहता था, रघुकुल-तिलक के बाणों से मरने में ही उसने अपना कल्याण सोच रक्खा था। दुःख के साथ राघव ने उसकी मनोकामना पूर्ण की, फिर भी वे सदा दुखी ही बने रहे। उसे मारने के अपराध में प्रायश्चित स्वरूप बड़े-बड़े अश्वमेधादि यज्ञ किये। सदा अपने को ब्राह्मण घाती समझकर खिन्न रहते थे, किन्तु इन नचकैया नटवर के मुँह पर विषाद की रेखा भी नहीं दिखाई दी। मामा को मारकर उसकी धन-सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमा लिया और जिन्होंने प्राणपण से पालन-पोषण किया, उन नन्द यशोदा माता-पिता को क्षण भर में भूल गये। ऐसों से किसी को क्या आशा हो सकती है? इस प्रकार नारदजी! भजनीय, स्मरणीय तो श्रीराघवेन्द्रजी ही हैं, किन्तु ये काले-कलूटे, टेढ़े, उत्पाती, चोरी-जारी वाले गोपाल जबरदस्त हैं। कहावत है 'जबरदस्त का ठेंगा सिर पर'—"सो, ये जबरदस्ती लोगों को अपनी ओर खींच लेते हैं। स्वेच्छा से इनकी ओर कौन से गुणों से आ सकता है। ये तो गुणहीन निर्गुण ही हैं, न शील, न सङ्कोच, न सदाचार। लिपे-पुते गोपियों के घरों को गन्दा बना देते हैं। छीन-झपटकर, लुक-छिपकर माखन के लोंदे उड़ा लेते हैं, कुछ खा लेते हैं कुछ बन्दरों और बन्धु-बान्धवों को बाँट देते हैं।

"श्रीरामजी तो प्रत्येक त्रेतायुग के अन्त में उत्पन्न होकर

संसार में मर्यादा स्थापित करते हैं, धर्म की स्थापना करते हैं, साधुओं की रक्षा करते हैं, भक्तों को सुख देते हैं। किन्तु इन गोपाल की सभी बातें उलटी, सभी नियम अनिश्चित। ये कब अवनि पर अवतरित होंगे—"किसी को पता नहीं! सुना है, इस बार अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में, कलियुग की सन्धि में, उनका अवतार होगा।"

बाल्यावस्था में ही पूतना को मारेंगे, तृणावर्त को पछाड़ेंगे, शकट का भञ्जन करेंगे, माखन की चोरी करने पर माता द्वारा बाँधे जायँगे, दो यमलार्जुन वृक्षों के बीच से भागते हुए उन्हें-उलूखल के सहारे उखाड़ेंगे। यमुना के जल को विषैला बनाने वाले विषधर कालिय नाग का दमन करेंगे, गोपों की दावानल से रक्षा करेंगे। माता जिस समय इनकी कमर में रस्सी बाँधने लगेंगी तो रस्सी में अनन्त रूप दिखाकर गोपियों-सहित अपनी माँ को परम विस्मित बनावेंगे। जम्हाई लेते समय मुख में-विश्व रूप दिखावेंगे, अपने पिता नन्दजी को वरुण-पाश से छुड़ावेंगे। व्योमासुर के द्वारा भयभीत बने अपने ग्वाल-बालों को उस दुष्ट का वध करके उन्हें निर्भय बनावेंगे। गोकुल वासी गाँव के गँवार गोपों को अपना दिव्य गोलोक वैकुण्ठ दिखावेंगे। नन्दजी से गिरिराज का पूजन करावेंगे, इन्द्र का पूजन छुड़ावेंगे। ऐसा कर्म करके इन्द्र को चिढ़ावेंगे। उसके वर्षा करने पर गोवर्धन को अपनी उँगली पर उठावेंगे, वर्षा से भयभीत हुए गोपों को निर्भय बनावेंगे। प्रेम में पगली हुई गोपियों के साथ रास रचावेंगे, उन्हें परम भाग्यवती बनावेंगे, उनके साथ छेड़खानी करने पर चन्द्रचूड़ यक्ष को यमसदन पठावेंगे। इसके अतिरिक्त प्रलम्ब, धेनुक, बक, केशी, अरिष्ट, चाणूर, मुष्टिक, कुबलयापीड़ हाथी, कंस, कालयवन, नरक पोण्ड्रक, शाल्व, द्विविद कपि, बल्वल, दन्तवक्त्र, राजा नग्नजित् के मदमाते सात बैल, शम्बर, विदूरथ, रुक्मी,

काम्बोज, मत्स्य, कुरु, कैकय, सृञ्जय आदि पृथ्वी पर उत्पन्न हुए असुरों में से किसी को स्वयं मारेंगे किसी को अर्जुन, बलरामजी आदि से मरवा डालेंगे। मरकर भी वे उन्हीं के लोक को प्राप्त होंगे उनकी संसार चक्र से मोक्ष हो जायगी।

इस प्रकार यह विलक्षण अवतार होगा। इस अवतार की सभी लीलायें अद्भुत होंगी। क्रोध में भी इनका प्रेम प्रकट होगा, शृङ्गार में भी ये करुणा की सरिता बहायेंगे, खेल में भी ये गोलोक का सुख प्रदान करेंगे। अपने दर्शन करने वालों को भी संसार से छुड़ावेंगे, नाम लेने वालों को भी अमर बनायेंगे, प्रेम करने वालों की तो बात ही क्या, द्वेष करने वालों को भी परम-धाम की प्राप्ति करावेंगे। ऊपर से दीखने वाली विपरीत क्रीड़ाओं में भी ये दिव्य रस का आस्वादन करायेंगे। इनकी लीला सुनने के भी सभी अधिकारी नहीं। इसलिये नारदजी ! अब इस अव-तार की बातें तुमसे क्या कहूँ ? मनुष्य तो कोई वर्णन कर नहीं सकता। फिर जीवों का उद्धार कैसे हो ? उद्धार करने वाली तो एकमात्र भगवत् लीलायें ही हैं। सर्वदा श्रवणीय तो श्रीकृष्ण-चरित ही है, इनका प्रचार कैसे हो ? यह सोचकर स्वयं अपने आप ही व्यास-रूप-में प्रकट होकर अपनी लीलाओं को लिखेंगे, अपने पुत्र शुक को पढ़ावेंगे। शुक परीक्षित् को सुनावेंगे, श्रीशुक से सूतजी सुनकर नैमिषारण्य में शौनकादि मुनियों को सुनावेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह बात ब्रह्माजी ने नारदजी से पहिले ही कह दी थी। सो, मैं आपको कथा सुना ही रहा हूँ। अब बताइये क्या कहूँ ?"

छप्पय

चञ्चल चपल चटोर चोर वे अति ही खोटे।
बरबस खेंचें चीर लगें देखन में छोटे॥
बाहर भीतर श्याम नयन तिरछे अनियारे।
तीखे विष तें बुझे बान सम तोऊ प्यारे॥
मनमन्दिर महँ मोहना, माखन के हित मचलि जा।
अरे, लड़ैते नन्दके, आ जा, मोकूँ पिचलि जा॥



अन्य अवतार-कथा

[९२]

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि ।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठम्
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम् ॥*
(श्री० भा० २ स्क० ७ अ० ४० श्लोक)

छप्पय

कल्कि बुद्धि बनि व्यास, करहिँ जग कारज नटवर ।
माया अपरम्पार बिलक्षण अति ही दुस्तर ॥
ब्रह्म, रुद्र अरु देव दैत्यहू पार न पावें ।
बेद भेद बिनु लखें नेति कहिकें समुझावें ॥
तोऊ श्वपच, किरात, शठ, पशु पक्षीहू तरि गये ।
जो सब तजि श्रद्धा सहित, चरन शरन हरि की भये ॥

भगवान् अवतार क्यों लेते हैं ? इसका कोई अभी तक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हुआ। निर्णय हो भी तो कैसे ? निर्णय करने वाली बुद्धि ही है और प्रभु बुद्धि से परे हैं। इसीलिये भिन्न-भिन्न अवतारों के लिये भिन्न-भिन्न अनुमान लगाये जाते हैं। कोई धर्म की रक्षा के लिये, कोई दैत्यों के विनाश के लिये, कोई वरदान को

---

* कोई कवि चाहे तो पृथ्वी के समस्त रज कणों को भले ही गिन ले, किन्तु ऐसा कौन है, जो श्रीविष्णु भगवान् के पराक्रमों की गणना कर सकता है। जिन्होंने अपने अस्खलित वेग से पाताल से लेकर सत्यलोक तक काँपते हुए समस्त भुवनों को एक ही चरण में नाप लिया। उनकी महिमा कैसे कही जा सकती है ?

सत्य करने के लिये, कोई भक्तों को सुख देने के लिये और कोई शाप को सत्य करने लिये, भगवान् का अवतार बताते हैं, किन्तु कुछ लोगों का मत है कि ये सब कार्य तो प्रभु अपने सङ्कल्प-मात्र से बिना अवतार लिये ही कर सकते हैं। उनके अवतार का मुख्य प्रयोजन है—लीला विस्तार। धराधाम पर प्रकट होकर वे जो भी क्रीड़ायें करते हैं, उन्हें जो सुनते हैं, पढ़ते हैं, अनुमोदन करते हैं, वे संसार सागर से सदा के लिये पार होकर प्रभु के परमधाम को प्राप्त होते हैं। यह कार्य भगवान् के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। प्रेम का प्रदान, प्रेम का प्रसार, प्रेम का प्रदर्शन बिना प्रेमार्णव प्रकट हुए प्रकाश में नहीं आ सकता। उनकी लीलायें इतनी प्रेममय होती हैं कि साधारण ऋषि-मुनि न उन्हें लिख सकते हैं, न प्रकाशित कर सकते हैं, वेद तो साक्षात् भगवान् की वाणी ही हैं। कलियुग में वेद लुप्त हो जाते हैं, मनुष्य वेद-धर्म से विहीन, क्रिया-कर्म शून्य बन जाते हैं। अतः अपनी वाणी को आप ही प्रकट करने, अपनी मधुमय, प्रेममय तथा आनन्दमय लीलाओं का प्रकाशन करने के निमित्त स्वयं श्रीहरि ही व्यास रूप से अवतीर्ण होकर वेदों का व्यास करते हैं, इतिहास-पुराणों का संग्रह करते हैं और सर्व साधारण के लिये इन सबको सुलभ बनाते। यदि प्रभु व्यास रूप में अवतीर्ण न हों तो उनकी दिव्य लीलाओं का, उनके अपौरुषेय प्रभाव और ज्ञान का प्रचार-प्रसार कैसे हो ? इस द्वापर के अन्त में भगवान् व्यासदेव महामुनि पराशर के वीर्य से कुमारी भगवती सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न हुए। उन्होंने वेद-पुराणों का तो व्यास किया ही, एकमात्र भगवत् लीलाओं को ही कथन करने वाली परमहंस सात्वत संहिता महापुराण इस भागवत की भी रचना की, जिससे असंख्यों संसार-सागर में डूबते हुए प्राणियों का उद्धार हुआ।

मय दानव के द्वारा बनाये हुए, तीनों पुरों के दैत्यों को शिव जी ने अपने वाणों से नष्ट कर दिया था। पीछे प्रसन्न होकर सुवर्ण के पुर को नष्ट करने से छोड़ दिया था। वह अभी तक अलक्षित भाव से आकाश में घूम रहा है। उसमें जब फिर देव-द्रोही दैत्य बढ़ जायँगे और वे राजा और ब्राह्मणों के रूप में पृथ्वी के पुरों में भी प्रकट होकर दम्भ यज्ञ करेंगे, 'वैदिकी हिंसा हिंसा नहीं होती,–इन वेद वचनों के आधार पर यज्ञ के नाम से असंख्यों पशुओं की हिंसा करेंगे, धर्म के रूप में अधर्म करेंगे, तब उन धर्मध्वजियों को ठगने के लिये, उनकी बुद्धि को मोहने के लिये, भगवान् बुद्ध रूप से अवतरित होंगे।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् के वाक्य ही वेदवाक्य कहलाते हैं। जब स्वयं भगवान् बुद्ध रूप से यज्ञ-याग आदि का खण्डन करते हैं तो उनकी आज्ञा माननी ही चाहिये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! यह ठीक है, भगवत् वाक्य ही वेद वाक्य हैं, किन्तु कार्य और अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण माना गया है। ऐसे अचिन्त्य भाव मानुषी तर्क द्वारा सिद्ध नहीं होते। जब शास्त्र स्वयं बता रहा है कि भगवान् बुद्ध केवल असुरों को मोहित करने के ही निमित्त ऐसे वेद-विरुद्ध उपदेश करेंगे तो उन उपदेशों को असुरों के लिये ही समझना चाहिये और सत्य, धर्म, दया, दान, परोपकार आदि सद्गुणों के सम्बन्ध में उनके जो उपदेश हैं, वे तो ठीक ही हैं। किन्तु जहाँ वैदिक क्रिया कलाप आदि का खण्डन है, वहाँ यही समझना चाहिये कि यह वेदमार्ग में स्थित नीच असुरों के मोहने के लिये है।"

इस पर शौनकजी बोले—"तब भगवान् ने ऐसा उलटा उपदेश दिया ही क्यों? यदि असुर वेदमार्ग में स्थित होकर वेदमार्ग

का प्रचार करते हैं, यज्ञ-याग आदि वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं तो फिर भगवान् को उन्हें उल्टी पट्टी पढ़ाने की क्या आवश्यकता पड़ी ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महानुभाव ! गुणज्ञ पुरुष के समीप ही गुण शोभित होता है, नीच पुरुष के पास गुण भी अवगुण हो जाता है। जैसे तीक्ष्ण तलवार शूरवीर के हाथ में हो तो वह उससे शत्रु संहार रूपी पुण्य कार्य कर सकता है, वही बच्चे के हाथ में दे दी जाय तो अपने ही अङ्गों को काट लेगा। इसलिये असुर यदि वैदिक क्रियायें करके बल प्राप्त करेंगे तो उनका बल परपीड़न के ही निमित्त होगा। इसीलिये भगवान् उन्हें वेदमार्ग से भ्रष्ट करके वैदिक श्री से सम्पन्न नहीं होने देते।"

हाँ, तो जब घोर कलियुग आ जायगा, वर्णाश्रम धर्म नष्ट प्रायः हो जायगा। यदि नाममात्र के द्विज रह भी जायँगे तो वे पाखण्डी धूर्त और वञ्चक बन जायँगे। शूद्र, अन्त्यज, म्लेच्छ, विधर्मी शासक हो जायँगे, जो वैदिक धर्म के विरोधी आर्य संस्कृति से द्वेष रखने वाले अपने को ही सर्वज्ञ और उन्नति का विधायक मानने वाले होंगे और यज्ञ याग आदि का विरोध करेंगे, तब कहीं भी स्वाहा, स्वधा तथा वषट्कार की ध्वनि सुनाई न देगी। सज्जनों के घरों में भी वेदशास्त्रों की चर्चा न होकर-भगवत् चरित्रों की कथायें न होकर-उत्तेजक और कामासक्ति को बढ़ाने वाले समाचार नित्य पढ़े जायँगे, तब श्रीभगवान् कल्कि रूप से उत्पन्न होकर कलियुग का अन्त करके सत्ययुग की स्थापना करेंगे।"

नारदजी से ब्रह्माजी कह रहे हैं—"ब्रह्मन् ! मैं जो सृष्टि रचना के लिये तप करता हूँ, यह सब उन प्रभु की प्रेरणा से करता हूँ। जब उन्हें सृष्टि करनी होती है तो वे मेरी (ब्रह्माजी) की तथा मेरे ही समान मरीचि आदि प्रजापतियों की सृष्टि करते

हैं। हम लोग उन्हीं की प्रेरणा से रात्रि-दिन सृष्टि बढ़ाने में ही लगे रहते है। हमें सदा यही चिन्ता रहती है कि कैसे सृष्टि बढ़े? हम लोग प्रत्येक मनुष्य से यही आशा रखते हैं कि वह खूब पुत्र-पुत्रियों को पैदा करके सृष्टि की वृद्धि करे। भगवान् ने हमारी बुद्धि की प्रवृत्ति ही इसी काम में कर दी है। इसलिये जितने प्रजापति हैं सबको मेरा अंशावतार ही समझना चाहिये और लोगों में जो प्रजा बढ़ाने की भावना है, उसे मेरी ही भावना समझनी चाहिये। जो जितना ही अधिक सन्तान बढ़ावे उसमें उतना ही अधिक मेरा अंश मानना चाहिये।"

वे ही भगवान् इस उत्पन्न हुई सृष्टि की रक्षा के लिये प्रत्येक मन्वन्तर में मनुरूप से उत्पन्न होकर सृष्टि की रक्षा करते हैं। अपने समान पुत्र उत्पन्न करके सृष्टि रक्षा के लिये देवता और ऋषियों की रचना करते हैं, इन्द्र बनाते हैं और स्वयं अवतार भी लेते हैं। इसलिये यज्ञरूप विष्णु, मनु, मनुपुत्र, राजा, ऋषि, देवगण और इन्द्र ये सब रक्षा करने वाले विष्णु के ही अंश माने जाते हैं।

"बढ़ती हुई सृष्टि का संहार करने के निमित्त वे ही सर्वेश्वर रुद्र रूप से उत्पन्न होकर भूत, पिशाच, अत्यन्त क्रोधी दैत्यों को उत्पन्न करते हैं, लोगों में अधर्म और क्रोध की वृद्धि करते हैं। इसलिये ये क्रोध, अधर्मी दैत्य, काल, अन्तक आदि ये सब रुद्र भगवान् के अंश है। सब में वे ही हरि व्याप्त हो रहे हैं। उनकी अनन्त महिमा है। उसका पार नहीं। मनुष्य अपने साधनों से उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता, अपने तर्क से उन्हें सिद्ध नहीं कर सकता। जिनके ऊपर वे ही कृपा करें, वही उन्हें जान सकता है, वही इस अपार संसार-सागर से पार हो सकता है। उन्हें सर्वात्मभाव से पूर्णरीत्या तो कोई देव, दानव, ऋषि-मुनि, यहाँ तक कि मैं भी नहीं जानता। फिर भी उनको कुछ लोग जान सकते हैं,

उनकी कृपा हो तो उनकी माया का पार पा सकते हैं, बहुत से लोगों ने उन्हें जाना है और वे माया से पार हो गये हैं, उनमें से कुछ के नाम बताता हूँ। देखो, मैं उनकी माया को उन्हीं की कृपा से जानता हूँ। तुम भी जानते हो, भगवान् भोलानाथ भी जानते हैं। प्रह्लाद, मनु पत्नी शतरूपा, स्वायम्भुव मनु, प्रियव्रत आदि मनुपुत्र, प्राचीनवर्ही, ऋभु, ध्रुव, इक्ष्वाकु, इलापुत्र पुरूरवा, मुचुकुन्द, जनक गाधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, ययाति, मान्धाता, अलर्क, शतधन्वा, अनु, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, अमूर्तरय, दिलीप, सौभरि ऋषि, उत्तङ्क, शिवि, देवल, पिप्लाद, सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण, विभीषण, हनूमान्, उपेन्द्र, दत्त, अर्जुन, आर्ष्टिषेण, विदुर, श्रुतदेव आदि और बहुत से भागवत् पुरुष हैं, जो भगवान् की माया को जानते हैं। ये सब तो बड़े-बड़े राजर्षि, ब्रह्मर्षि, राजपुत्र, कुलीन तथा यशस्वी पुरुष हैं। यदि भक्तों का सङ्ग करें उनसे शिक्षा-दीक्षा लेकर जो भगवत्-परिचर्या-भगवत्-कथा श्रवण आदि करते हैं, वे चाहे द्विज हों, शूद्र हों, स्त्री हों, अन्त्यज हों अथवा म्लेच्छ हूण, शबर आदि जङ्गली जाति के भी पुरुष क्यों न हों वे भगवान् की माया को पार कर जाते हैं। फिर शास्त्रज्ञ महात्मा और भक्त के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ?"

"वे भगवान् के कारणों के भी कारण हैं, नित्य, अक्षय, सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। यह सब प्रपञ्च उन्हीं की प्रेरणा से दिखायी दे रहा है, इसके नष्ट होने पर वे ज्यों-के-त्यों ही बने रहते हैं।"

ब्रह्माजी कह रहे हैं—"वत्स नारद ! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में तुम्हें भागवत तत्त्व बता दिया। अर्थात् मैंने कुछ भगवान् के अवतारों की संक्षिप्त लीलायें कही हैं, कुछ भागवतों के नाम बताये हैं। भगवान् और भागवतों के सम्बन्ध जिनसे हों वे ही भागवत हैं। जो भी कुछ तुम्हें दीख रहा है, यह भगवान् से पृथक्

नहीं है, सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का स्वरूप है, इतना होते हुए भी ये जगत् से सर्वथा पृथक् हैं। यही भागवत तत्त्व मुझे कमल पर बैठे-बैठे साक्षात् श्रीमन्नारायण ने सुनाया था। वही संक्षेप में मैंने तुम्हें सुना दिया। अब तुम इसका विस्तार करके संसार में प्रचार करो।"

नारदजी ने पूछा—"प्रभो! सब कार्य, किसी-न-किसी सङ्कल्प से होने हैं। मन में पहिले यह विचार कर ले कि मेरे इस कार्य से यह वस्तु सिद्ध हो। और आप यह कहते हैं कि सङ्कल्प से ही सृष्टि होती है। सङ्कल्प से आदमी बन्धन में फँसता है। इसलिये सभी प्रकार के सङ्कल्पों का परित्याग करना चाहिये। अब आप कहते हैं, तुम इस भागवत शास्त्र का विस्तार करो, प्रचार और प्रसार करो। सो, आप मुझे कर्मों में क्यों प्रवृत्त करते हैं? नैष्कर्म्य ही मुक्ति का मार्ग है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी बड़े स्नेह से बोले—"देखो, भैया! यह यथार्थ है कि कर्मों से बन्धन होता है। यह भी सत्य है कि कर्म सङ्कल्प पूर्वक ही किये जाते हैं। फिर भी केवल भगवान् के निमित्त किये हुए कर्म संसारी बन्धन के हेतु नहीं होते। यही नहीं, वे संसारी बन्धनों को छुड़ाने वाले होते हैं। मनुष्य जिसका भी चिन्तन करेगा, उसी का रूप हो जायगा। अन्त में स्त्री का चिन्तन करते-करते मरे तो दूसरे जन्म में स्त्री होना पड़ेगा। इसी प्रकार संसारी किसी भी वस्तु का चिन्तन करोगे तो उसी की अगले जन्मों में प्राप्ति होगी। यदि संसारी बातों को छोड़कर निरन्तर भगवान् के दिव्य गुणों के कथन में उनकी मनोहर लीलाओं के श्रवण कीर्तन में मन को फँसाये रहोगे तो अन्त में उन्हीं को प्राप्त होगे। भगवान् की प्राप्ति होना ही संसार से छूटना है–यही मोक्ष है। इसीलिये भगवत् लीलाओं का विस्तार करना तो बन्धन को छुड़ाने वाला है। इसलिये तुम इस सङ्कल्प से इस

भागवत शास्त्र का विस्तार करो कि भक्ति सर्वान्तर्यामी सर्वाधार श्रीभगवान् के चरणारविन्दों में हो। सभी का मन भगवान् की दिव्य लीलाओं में निमग्न हो जाय।"

नारदजी बोले—"हाँ, महाराज ! मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। किन्तु किसी रूप से माया तो आकर मुझे अपने चंगुल में न फँसा लेगी ?"

इस प्रकार ब्रह्माजी बड़े स्नेह से अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"नारद ! तुम कैसी बातें कर रहे हो। अरे तुम्हारी तो बात ही पृथक् है। तुम्हारे पास तो वैसे ही कभी माया फटकने नहीं पाती। जो पुरुष इस भागवत तत्त्व का वर्णन करेंगे, जो पुरुष अचिन्त्य माया के स्वामी श्रीहरि की लीलाओं का समर्थन तथा अनुमोदन करेंगे, जो श्रद्धा के सहित नित्य प्रति श्रवण करेंगे, उनका भी चित्त माया से मोहित न होगा। आप लोक-कल्याण के निमित्त इस कार्य को करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मेरे गुरुदेव भगवान शुकदेव महाराज परीक्षित् से ब्रह्मा नारद सम्वाद कहकर चुप हो गये। उनके चुप हो जाने पर परम भागवत महाराज परीक्षित् फिर उनसे कुछ कहने को उद्यत हुए।"

छप्पय

बोले ब्रह्मा—'वत्स ! बजाओ वीना बरतर।
भनो भागवत तत्त्व सुनत भवपार होयँ नर॥
करम बन्ध के हेतु किन्तु हरिचरित ललित अति।
कहत सबन की होय राधिकापति चरननि रति॥
सब संसारी सुख लहैं, जग विषयनि तें मन हटे।
मुक्त मुमुक्षू बद्ध सब, सेवें भव बन्धन कटे॥

—o—

परीक्षित् की दृढ़ता और विविध प्रश्न

[९३]

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥
धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति ।
मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा ॥*

श्री० भ० २ स्क० ८ अ० ५, ६ श्लोक)

छप्पय

कहें परीक्षित्—"गुरो ! आप विस्तार बतावें ।
जाकूँ नारद कह्यो ताहि अब मोहिँ सुनावें ॥
बरषा बीते शरद स्वच्छ करि देवै जलकूँ ।
त्यों हरि-लीला नाम हिये के मेंटे मलकूँ ॥
पीवत पानी पन्थ को, निजपुर पहुँचे पान्थ ज्यों ।
हरषित होवै हृदय हरि, भक्त परिस पद शान्त त्यों ॥

श्रोता का अधिकार समझकर ही वक्ता उसे उपदेश करते हैं। हीन श्रेणी के श्रोता को उच्च श्रेणी का ज्ञान सहसा देना व्यर्थ है, क्योंकि वह उसे सहसा, धारण करने में

---

* महाराज परीक्षित् आगे की कथा सुनने के लिये कथा-माहात्म्य कथन करते हुए आगे का प्रश्न पूछने का उपक्रम बाँध रहे हैं। राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! वर्षा काल में नदियों का समस्त जल गँदला हो जाता है। जिस प्रकार वर्षा के बीतने पर शरद ऋतु के प्रवेश करते ही

असमर्थ है। उसी प्रकार उच्च श्रेणी के श्रोता को निम्न श्रेणी का उपदेश दें तो उसकी उससे तृप्ति ही न होगी। श्रोता की उत्सुकता देखकर ही वक्ता का उत्साह बढ़ता है, इसीलिये वह किसी प्रसङ्ग का बीजारोपण करके कथा का सूत्रापात कर देता है। जैसी योग्यता का श्रोता होगा, जितनी अधिक उसे श्रवण की उत्सुकता होगी उसी के अनुसार वह स्वयं आगे का प्रश्न करेगा। ब्रह्मा-नारद सम्वाद को कथन करके और यह कहकर कि ब्रह्माजी ने नारदजी से संक्षिप्त भागवत तत्त्व को विस्तार करने की आज्ञा दी—इतना कहकर श्रीशुक जब चुप हो गये, तब महाराज आगे का प्रश्न पूछने लगे।

महाराज ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने कहा कि ब्रह्माजी ने नारदजी को निर्गुण स्वरूप श्रीभगवान् के गुणों को विस्तार पूर्वक वर्णन करने की आज्ञा दी। लोक पितामह तथा अपने पिता भगवान् चतुरानन की आज्ञा पाकर नारदजी ने वह कथा किस किससे कही? कैसे उनका विस्तार हुआ? यह सब आप मुझे विस्तार पूर्वक सुनावें।"

श्री शुकदेव ने कहा—"राजन्! इतने गूढ़ तत्व को हम कैसे समझ सकते हैं और समझ भी लें तो उसका वर्णन करना, दूसरों को समझाना यह तो और भी कठिन है।"

सब गँदलापन नीचे जमकर जल स्वच्छ निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार जो भगवान् के भक्त श्रीकृष्ण-कथा-श्रवण करते हैं, उनके कान के छिद्रों से भगवान् उनके हृदय-कमल में घुसकर उसके समस्त मनोमल को नष्ट कर देते हैं। जैसे बटोही नित्य उठते ही चलता रहता है, मार्ग में नाना कष्ट सहता है। जहाँ अपने घर पहुँचा कि उसके सब क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। फिर उसे प्रातः उठते ही चलने की चिन्ता नहीं रहती। जैसे वह सुखी होकर फिर चलने की चिन्ता छोड़ देता है, उसी प्रकार चित्त शुद्ध हो जाने पर मनुष्य भगवान् के चरणों को नहीं छोड़ता।"

इस पर हँसकर महाराज बोले—"भगवन्! मुझे भुलवा न दें। भला ऐसी कौन-सी बात है, जिसे आप न जानते हों आप वेदवेत्ता ही नहीं, वेदवेत्ताओं में भी सर्वश्रेष्ठ तथा शिरोमणि हैं। आप भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ जानते हैं।"

महाराज की बात सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! आप इतने उतावले क्यों हो रहे हैं? धैर्य धारण करें, मैं सब सुनाऊँगा।"

इस पर महाराज बोले—"प्रभो! उतावलेपन की तो कोई बात नहीं, मुझे चिन्ता यही है कि अन्त समय मेरा मन मदन मोहन के चरणारविन्दों में लीन न हुआ, यदि मरते समय भी चित्त संसारी विषयों में आसक्त रहा तो फिर चौरासी के चक्कर में फँसना होगा। अतः मैं अपने अनासक्त चित्त को आनन्दकन्द नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्दों में लगाकर प्राणों को छोड़ना चाहता हूँ।"

हँसते हुए श्रीशुकजी बोले—"राजन्! कथा कान से सुनोगे, मन भगवान् के चरणान्दिों में कैसे लगेगा? इस विषय में आप अपना मत बतावें।"

इस पर हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता के साथ महाराज बोले—"भगवन्! मैं क्या जानूँ? मैंने तो आप जैसे ही सन्त पुरूषों के मुख से यह सुना है कि भगवान् में तथा उनके नाम और गुणों में कोई अन्तर नहीं, एक ही हैं। जब अपने कानों से सुमधुर भगवन्नामों को, कलिमलहारिणी कमनीय-श्रीकृष्ण-कथा को श्रवण करेंगे तो हमारे कानों के छिद्रों से कथा के साथ-ही-साथ अपने नाम गुण रूपी दाम से बँधे हुए दामोदर हृदय में स्वतः प्रवेश कर जायँगे। उनके प्रवेश के पूर्व हृदय अज्ञान अन्धकार से व्याप्त रहता है। ज्ञान स्वरूप श्रीकृष्ण के प्रवेश करते ही नाना प्रकार के दुर्गुण हृदय से उसी प्रकार

भाग जाते हैं, जैसे वन में सिंह के प्रवेश करते ही गीदड़ों के झुण्ड इधर-उधर छिप जाते हैं। जैसे बिल्ली के आने पर चूहे बिलों में घुस जाते हैं, गरुड़ के आने पर सर्प सर्र से इधर-उधर भाग जाते हैं। जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार विलीन हो जाता है, वर्षा के दिनों में सभी नदियों का पानी गँदला हो जाता है, वह किसी प्रकार स्वच्छ नहीं होता। एक घड़े के जल को निर्मल बूटा डालकर–फिटकिरी डालकर–उसकी मिट्टी को नीचे बिठाकर निर्मल बना सकते हैं, किन्तु पूरी नदी के जल को किसी भी उपाय से निर्मल बनाने में समर्थ नहीं, किन्तु जहाँ शरद ऋतु ने प्रवेश किया वह सब गँदलापन दूर हो जाता है। जल स्वच्छ काँच की तरह निर्मल बन जाता है, उसी प्रकार अन्य उपायों से क्षणिक अनित्य स्वर्गीय सुख भले ही मिल जायँ, किन्तु हृदय विशुद्ध बनकर उसमें वासुदेव भगवान् का निरन्तर निवास तो नहीं हो सकता। इस श्रीकृष्ण-कथा रूपी अमृत की यही विशेषता है कि जहाँ यह कानों के द्वार से भीतर गया, सभी गन्दगी को धोकर स्वच्छ स्थान बना देता है, वहाँ कमल के ऊपर दिव्य सिंहासन बिछा देता है, फिर उसी प्रवाह में यमुनातट बिहारी वासुदेव को बहा लाता है और उस पर सदा के लिये आसीन कर देता है। चित्त ने जहाँ उन मनमोहन की बाँकी झाँकी की; जहाँ उसने नवनीत से भी कोमल, मखमल से भी मुलायम, बट और पीपल के नवजात पल्लव से भी अरुण मृदुल चरणों के दर्शन किये कि वह उनमें फिर फँस जाता है। फिर उसकी इच्छा उन्हें छोड़कर बाहर जाने की नहीं होती।"

इस पर श्रीशुक ने कहा—"भगवान् के चरणों को पाकर चित्त अपनी चंचलता कैसे छोड़ देते है, उसका स्वभाव ही है इधर-से-उधर चलने का ? अपने स्वभाव को छोड़ना तो कठिन है।"

यह सुनकर महाराज मुस्कराये और बोले—"महाराज! बुरा न मानो तो मैं एक दृष्टान्त दूँ। बुरा न मानने वाली बात इसलिये कही कि महाराज, हम ग्रहस्थियों के दृष्टान्त भी घर-गृहस्थियों के ही होते हैं। गृहस्थी में सबसे प्यारी, सब से मोहक, सब तरह से मन को लगाये रहने वाली होती है गृहणी। गृहणी के बिना घर, घर ही नहीं कहलाता। घर की शोभा गृहिणी ही हैं। नाना दुखों को भुलाकर भी घर बाँधे रखने वाली पत्नी ही है। ऐसा कौन गुण ग्राही पति होगा जो, अपनी सती साध्वी, रूप गुण-सम्पन्ना, अपने में परम स्नेह रखने वाली, मृदु मधुर मुस्कान वाली, प्रिय भाषण करने वाली, पत्नी को छोड़कर क्षण भर के लिये भी उससे पृथक् होना चाहेगा। ऐसी सर्वाङ्ग सुन्दरी पत्नी को पाकर भी प्रारब्धवश लोगों को परदेशों में भटकना पड़ता है। अजीविका के निमित्त, पद-प्रतिष्ठा के निमित्त उसे भी छोड़कर बाहर जाना पड़ता है कोई आवश्यक कार्य आ जाता है तो ऐसी जगह पहाड़ों पर जाना पड़ता है, जहाँ कोई सवारी नहीं जाती। काम हो जाने पर फिर वह व्यक्ति घर को ओर दौड़ता है। अब उसे एक ही धुनि रहती है कि किसी प्रकार जल्दी-से-जल्दी घर पहुँचे। प्रातःकाल हुआ नहीं कि वह पोटली बगल में दबाकर चल पड़ता है, चलता ही रहता है। दोपहर को भोजन बनाया खाया, फिर चल दिया। सूर्यास्त हो गया, अँधेरा हो गया, कहीं खा-पीकर पड़कर सो गया। जहाँ अरुणोदय हुआ की फिर वहीं चलने की तैयारी। इसी प्रकार उसे सदा चलने की ही धुनि सवार रहती है। दूसरा कोई देखे तो समझ ले इसे तो चलने का व्यसन है, यह एक जगह बैठ नहीं सकता। किन्तु जहाँ वह अपने गृह पहुँचा, जहाँ अपनी प्राणप्रिया पत्नी का चन्द्रमुख देखा कि फिर आगे जाता ही नहीं। अब कहाँ जाय? जहाँ के लिये चल रहा था, वहाँ तो

पहुँच गया ? जिसे देखने के लिये व्याकुल था, उसे तो देख लिया, अपने गन्तव्य पर पहुँच गया। अब वह पान्थ, बटोही, यात्री, राहगीर नहीं रहा। अब तो वह अपने घर का हो गया। इसी प्रकार यह चित्त तभी तक भटकता है, तभी तक चंचल रहता है, जब तक चित्तचोर के चारू चरणों की ओर नहीं झुकता, उन तक नहीं पहुँचता। जहाँ उसने उन अरुण-वर्ण के विमोहक प्रकाशवान् पादपद्मों को निहारा की फिर उन्हीं का हो जाता है, उन्हे छोड़कर अन्यत्र रति करता ही नहीं। करे भी तो कैसे ? उनसे कमनीय संसार में कोई पदार्थ है ही नहीं, इसीलिये चित्त अपनी चंचलता को छोड़कर उनमें सदा के लिये रम जाता है।"

यह सुनकर श्रीशुक हँसे और बोले—"राजन् ! बड़ा सुन्दर तुमने दृष्टान्त दिया। अच्छा, आप कौन-कौन प्रश्न पूछना चहते हैं ? उनकी एक छोटी-सी सूची मुझे बताएँ। उसी का मैं विस्तार करके तुम्हारे सामने वर्णन करूँगा।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए महाराज बोले—"भगवन् ! प्रश्न करने को भी तो योग्यता होनी चाहिये। सब कोई प्रश्न नहीं पूछ सकते। आप अपने आप जो मेरे हित का उपदेश हो उसे करें। वैसे मैं कथा प्रसङ्ग चलाने को कुछ प्रश्न किये देता हूँ किन्तु आप यह न समझें कि मैं इतनी ही बातें पूछना चाहता हूँ। आप इतने ही प्रश्नों का उत्तर दें। इनके अतिरिक्त जो मैं न पूछ सका हूँ और जो मेरे हित के हों, उन्हें आप बिना पूछे ही मुझे अपना शिष्य समझकर उपदेश करें। हाँ तो मेरे कुछ ये प्रश्न हैं—

१—यह जीव तो स्वतः पंचभूतों से रहित है, किन्तु जिस देह में रहकर यह सुख-दुःख का भोग करता-सा दीखता है, वह पंचभूतों का बना है। यह स्वभाव वश ही जीव देह को प्राप्त होता है अथवा किसी कर्म के अधीन होकर ?

२—एक बात आपने यह कही कि पुराण पुरुष की नाभि से ही एक कमल उत्पन्न होता है, उसी से समस्त सृष्टि की रचना होती है तो क्या वह परमात्मा भी जीव के समान ही परिमित अवयवों से परिच्छिन्न ही है या जीव में और ब्रह्म में कुछ अन्तर है ?

३—जिनकी कृपा से ब्रह्माजी समस्त लोकों की रचना करते हैं, जिनकी कृपा से ही ब्रह्माजी उनका साक्षात्कार करते हैं, जो समस्त भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और लय के आधार हैं, जो माया के नियामक स्वामी हैं, वे सर्वान्तर्यामी पुराण पुरुष अपनी माया से पृथक् होकर कहाँ शयन करते हैं ?

४—एक बार आपने कहा कि उन विराट् पुरुष के अङ्गों से ही समस्त लोक तथा लोकपालों की रचना हुई, फिर आपने कहा कि समस्त लोक और लोकपालों से ही उनके अङ्ग कल्पित हैं, सो इसका भी रहस्य बताइये। यह क्या बात है ?

५—महाकल्प क्या है और उसके अन्तर्गत अवान्तर कल्प कितने हैं ?

६—यह भूतकाल है, यह वर्तमान है और यह भविष्य है, इसका अनुमान किस आधार पर किया जाता है ?

७—स्वर्गलोक तथा मर्त्यलोक के प्राणियों की आयु का परिमाण क्या है ?

८—काल की सूक्ष्म और स्थूल गति किस प्रकार जानी जाती है ?

९—किन-किन कर्मों के करने से जीवों को कौन-कौन-सी गतियों की प्राप्ति होती है ?

१०—त्रिगुणों के परिणाम स्वरूप जो देव, मनुष्य आदि योनियों की इच्छा रखने वाले प्राणी हैं, वे किस कर्म के द्वारा किस-किस योनि की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं ?

११—ये जितने पृथ्वी, पाताल, दिशा, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप तथा इन सब में रहने वाले सभी प्रकार के जीव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ?

१२—यह ब्रह्माण्ड भीतर से कितना बड़ा है ? बाहर इसका कितना परिमाण है ?

१३—महापुरुषों के आचरण कैसे होते हैं ? उनके चरित्र और गुणों का कथन कीजिये ?

१४—वर्णाश्रम धर्म का विभाग किस प्रकार होता है ? किस वर्ण का, किस आश्रम का क्या धर्म है—यह भी समझाइये ?

१५—भगवान् के परम आश्चर्यमय अवतारों की सुललित, कमनीय कथाओं का भी कथन कीजिये ?

१६—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग इनका भेद बताइये। कैसे जानें कि अब अमुक युग है ?

१७—इन युगों का परिमाण बताइये कि कितने दिन तक कौन-सा युग रहता है ?

१८—चारों युगों के धर्म भी बताइये कि किस युग में कौन-सा कर्म करने से शीघ्र ही मुक्ति अथवा भगवत् प्राप्ति हो सकती है ?

१९—मनुष्यों के साधारण धर्म और विशेष धर्मों का भी कथन करें।

२०—भिन्न-भिन्न व्यवसाय वालों का धर्म बताइये ?

२१—राजर्षियों के भी धर्म का वर्णन करें ?

२२—आपत् धर्मों का भी कथन करें ?

२३—संसार में कितने तत्त्व हैं ? यह भी बताइये ?

२४—सभी तत्त्वों के स्वरूप, लक्षण और हेतु लक्षण भी समझाइये ?

२५—भगवत् उपासना का रहस्य विस्तार के साथ वर्णन करें ?

२६—अध्यात्म योग की भी विधि विस्तार से बतावें ?

२७—योग के द्वारा योगेश्वरों को जिस ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, उसकी भी गति बताइये ?

२८—शरीर तीन प्रकार के बताये हैं-स्थूल, सूक्ष्म और कारण। योगी पुरुष सूक्ष्म शरीर का भेदन कैसे करते हैं ? इसका भी रहस्य समझावें।

२९—वेद का स्वरूप क्या है ? उपवेद किनको कहते हैं और किस वेद का कौन-सा उपवेद है ? धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण इनका स्वरूप, इनकी संख्या आदि का वर्णन करें।

३०—सर्ग, स्थिति और प्रलय का क्रमानुसार रहस्य समझावें।

३१—इष्ट कहने वाले यज्ञादिक वैदिक कर्म कैसे किये जाते हैं ? इनका भी कथन करें।

३२—जितने पूर्त कर्म हैं, जैसे वापी, कूप, तड़ाग, आराम और देव मन्दिर आदि का निर्माण उनकी विधि आदि को भी समझावें।

३३—स्मार्त कर्म, काम्य कर्म तथा धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग के साधनों की भी विधि बताइये।

३४—जिन लोगों को मोक्ष प्राप्त तो नहीं है, पर प्रकृति में लीन हो गये हैं, उनकी फिर किस प्रकार उत्पत्ति होती है, इसे भी बतावें।

३५—पाखण्ड धर्म का प्रचार और प्रसार कैसे और क्यों होता है ? इसे भी समझावें।

३६—आत्मा के बन्धन और मोक्ष का स्वरूप क्या है ?

३७—आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति कैसे होती है ?

३८—सर्वतन्त्र, स्वतन्त्र, सर्वसमर्थ, सर्वेश्वर अपनी अघटन घटनापटीयसी प्रियतमा के साथ किस प्रकार क्रीड़ा करते हैं ?

३९—स्वेच्छा से ही अपनी माया को छोड़कर उदासीन भाव से केवल साक्षी रूप होकर कैसे स्थित होते हैं ?"

"हे महामुने ! मैं अपने इन प्रश्नों के उत्तर तथा इनके अतिरिक्त आप और भी जो मेरे लिये उचित समझें, उन सबको मैं अत्यन्त ही शीघ्र सुनना चाहता हूँ। मैं आपकी शरण आया हूँ। साधु पुरुष शरणागत की रक्षा करते हैं। आप भी मुझे शरणागत जानकर संसार-सागर से पार कर दें और मेरी इन समस्त शङ्काओं का समाधान करके निःशङ्क बना दें। मैं आपसे इसीलिये पूछता हूँ कि आपका ज्ञान स्वतः सिद्ध है। आपने शास्त्र को पढ़-सुनकर उसका स्वयं साक्षात्कार किया है और ऋषि-मुनि तो प्रायः सुनी सुनाई बात कहते हैं।"

इस पर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन् ! आप एक साथ इतने प्रश्न पूछ देते हैं। न आपने कुछ खाया न पिया। अजी, भोजन करें, फलाहार ही कर लें। वह भी न हो दूध ही पी लें। न सही दूध, फल, श्री गङ्गाजी का निर्मल जल ही पान कर लें। बिना खाये-पीये कैसे काम चलेगा ? शरीर की स्थिति अन्न जल पर ही है। बिना खाये पिये बीच में ही आपको कुछ हो गया तो आप शङ्कित ही रह जायँगे। आपका पूर्ण समाधान भी न होगा।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् बड़ी दृढ़ता के साथ बोले—"प्रभो ! अमृत पीकर भी कोई मर सकता है क्या ? आप मुझे मधुरातिमधुर श्रीकृष्ण कथारूपी सुधा पिला रहे हैं। मेरे कानों में अमृत उड़ेलकर हृदय तक पहुँचा रहे हैं। मृतसञ्जीवनी सुधा को सम्पूर्ण शरीर पर छिड़क रहे हैं। फिर मैं कैसे मर सकता हूँ, बीच में ही मेरा कैसे अनिष्ट हो सकता है ? कुपित हुए भगवान् शृङ्गी ऋषि ने मेरी मृत्यु की मर्यादा न बाँधी होती, यदि वे मुझे सात दिन में तक्षक के द्वारा मृत्यु का शाप न देते तो मैं निरन्तर

कथा सुनते-सुनते कभी न मरता। निरन्तर इसी प्रकार निराहार कथा श्रवण करता रहता। आप मेरे खाने-पीने की चिन्ता छोड़ दें। मुझे तो केवल केशव की ललित कथाओं को ही सुनावें। मुझे शङ्का रहित करके परमपद का अधिकारी बनावें। मुझे दुर्गति से बचावें, यही आपके श्रीचरणों में मेरी बार-बार विनीत प्रार्थना है।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार जब महाराज ने मेरे गुरुदेव महामुनि श्रीशुक से अपने प्रश्नों का उत्तर देने की प्रार्थना की तब वे राजा के प्रश्नों को सुनकर अत्यंत ही हर्षित हुए और उसी श्रीमद्भागवत तत्व को सुनाने के लिये प्रवृत्त हुए, जो ब्रह्मकल्प के आरम्भ में साक्षात् श्री मन्नारायण ने कमल पर बैठे हुए लोकपितामह ब्रह्माजी को सुनाया था। महाराज परीक्षित् ने जो-जो प्रश्न किये उन सबका क्रमशः उत्तर देने को व्यासनन्दन भगवान् शुक प्रवृत्त हुए।"

छप्पय

ब्रह्मन्! यह संसार भूमि आकाश नदी नद।
बन,परबत,ग्रह, दिशा,स्वरग, पाताल,कमल, ह्रद ॥
इन सबकी उतपत्ति प्रलय रक्षा बतलावें।
धरम काम अरु अरथ मोक्ष को मार्ग दिखावें॥
बरन धरम आश्रम नियम, भगवत चरित सुनाइकें।
शङ्का नाथ मिटाइदें, शरणागत अपनाइकें॥

ब्रह्माजी की तपस्या तथा बैकुण्ठ दर्शन

[९४]

तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः
सन्दर्शयामास परं न यत्परम् ।
व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसम्
स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम् ॥*
(श्री० भा० २ स्क० ६ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

ह्वै प्रसन्न शुक कहें--भूप सुनु सुख के मगकूँ ।
माया ब्रह्म प्रकाश पाइ दरशावै जगकूँ ॥
सोचें ब्रह्मा--सृष्टि करूँ कस, नभधुनि आई ।
तप ही सबको सार, करो तप भ्रम मिटि जाई ॥
दिव्य सहस बत्सर परम, तप कीन्हों विधि उग्र अति ।
परमधाम बैकुण्ठमहँ, लखे मुदित मन रमापति ॥

इन्द्रियों को विषय भोगों में फँसाये रहने से संसार बन्धन अधिकाधिक जकड़ता जाता है, हमारी स्वाधीनता नष्ट हो जाती है, हम पराधीन बन जाते हैं। दूसरे हमें जैसे नचाते हैं वैसे ही

---

* श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कह रहे हैं—"जब भगवान् की आज्ञा से ब्रह्माजी ने घोर तप किया तो उससे प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें अपने परमधाम के दर्शन कराये। जो सभी प्रकार के क्लेश, मोह और भय से रहित है, जिससे श्रेष्ठ कोई अन्य लोक नहीं तथा जिसकी पुण्यात्मा देवतागण सदा स्तुति करते हैं।"

नाचना पड़ता है, जहाँ बिठाते हैं, वहीं बैठना पड़ता है। अपनी इच्छा पूर्ण करने की शक्ति उसमें कैसे आ सकती है, जो विषयों के अधीन हो गया है। इसके विरुद्ध जिसने समस्त इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन को तपस्या में लगाया है, वही स्वराज्य का अधिकारी हो जाता है, वह सब कुछ कर सकता है। अतः सार सिद्धान्त हुआ कि विषयों में मन को फँसाना ही बन्धन हैं। विषयों से मन को खींचकर उसे तपस्या में लगाना–यही मोक्ष का मार्ग है।

ये जो चित्र-विचित्र मोहक संसारी पदार्थ दिखाई देते हैं, उनका ज्ञान स्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु से भला क्या सम्बन्ध है। ये पदार्थ अनित्य हैं, श्रीहरि नित्य हैं। ये नाशवान् हैं, आनन्द घन प्रभु अविनाशी हैं। ये परिणाम में दुखदायी हैं, भगवान् सदा सर्वदा सुख स्वरूप हैं। यही सोचकर भगवान् शुक महाराज परीक्षित् से कहने लगे—"राजन्! इन संसारी पदार्थों के साथ उन विशुद्ध ज्ञान स्वरूप भगवान् का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कुछ भी है तो उसी प्रकार है, जैसे स्वप्न देखने वाले का स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थों के साथ सम्बन्ध है। स्वप्न में हाथी, घोड़ा, सागर, पर्वत, सभी दिखाई देते हैं। आँखें खोलो—न वहाँ पर्वत, न नदी, न समुद्र, अपनी छोटी-सी कुटी में, टूटी-सी खाट पर, फटी-सी चद्दर ओढ़े सो रहे हैं।"

इस पर महाराज ने पूछा—"प्रभो! स्वप्न में तो मनुष्य वही देखता है, जो उसने पूर्व में सत्य देखा हो। इससे यह प्रतीत होता है कि पहिले कोई सत्य पदार्थ रहे होंगे। स्वप्न द्रष्टा स्वप्न में सभी पदार्थों को सत्य समझता है। नींद खुलने पर उसे अपना बुद्धि भ्रम समझता है, अपने को अज्ञान से निवृत्त समझता है तो क्या भगवान् में कभी भ्रम होता है?"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन् ! दृष्टान्त का एक देश लिया जाता है। इस स्वप्न के दृष्टान्त से इतने ही देश से तात्पर्य है कि स्वप्न देखने वाले का सम्बन्ध स्वप्न के पदार्थों से कल्पित था। न वे वहाँ पदार्थ थे, न उनका सम्बन्ध था, केवल स्वप्न के आश्रय से न होते हुए भी वे विद्यमान से दीखते थे। इसी प्रकार परब्रह्म का इन संसारी पदार्थों से न कभी सम्बन्ध हुआ, न है, न होगा। किन्तु उनकी अपनी माया के द्वारा ये उनसे सम्बन्धित सत्य से प्रतीत होते हैं।"

राजा ने पूछा—"प्रभो ! एक पदार्थ हो तो उसे मान लें कि यह माया से ऐसा सत्य-सा प्रतीत होता है। संसार में तो नाना रूप, नाना आकृतियाँ हैं और वे सभी सत्य हैं, फिर आप इन्हें स्वप्नदृष्ट पदार्थों के समान क्यों बता रहे हैं ?"

श्रीशुक बोले—"महाराज ! इस ठगिनी माया ने ही नाना रूप रख लिये हैं। राजाओं के दरबार में 'बहुरूपिया' जब आते हैं तो वे कभी भिखारी बन आते हैं, कभी स्त्री बन आते हैं, कभी राजा तथा राजपुरुष का रूप रख आते हैं और सभी को अपने रूप से विस्मित बना देते हैं। पहिले पहिल तो लोग उन्हें सच्चा ही समझते हैं। जब ज्ञान हो जाता है—अरे, यह बहुरूपिया है तो सभी हँस पड़ते हैं। यह माया भी वैसी बहुरूपिणी है। इस नाना रूप वाली माया के सम्बन्ध से ही जीव शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने पर भी इन मायिक गुणों के रमण करने से देह में, घर में, स्त्री-पुत्र में, धन में, भूमि में, वाहन और वस्त्राभूषणों में ममभाव करता है। ये सब मेरे हैं और इस अनित्य नाशवान् क्षणभंगुर पांच भौतिक शरीर में अहंभाव करता है, मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, मेरी वह शक्ति है, मैं इसे मार सकता हूँ, उसे पछाड़ सकता हूँ, उसकी चौकड़ी भुला सकता हूँ, उसे मजा चखा सकता हूँ, वहाँ जा सकता हूँ, यह ला सकता हूँ, वह दे सकता हूँ, मैं

ऐसा ज्ञानी हूँ, वैसा ध्यानी हूँ, बड़ा मानी हूँ, मैं उस वस्तु का कर्ता हूँ, उनका भरण-पोषण करने वाला भर्ता हूँ, ये सब अहङ्कार युक्त बातें शरीर को ही 'अहं' मैं-मानकर बकता है। यह सब क्यों होता है? प्रकृति माया अथवा अविद्या के कारण। काल आने पर जब गुणों में क्षोभ होता है तो यह सब प्रपञ्च निर्माण होने लगता है। किन्तु जो माया के भी पति हैं, काल के भी नियन्ता हैं, स्वभाव के भी प्रवर्तक हैं, यह जीव जब उनकी शरण में जाता है, या अपने को समस्त प्रपञ्च की जननी मोहिनी माया का शासन कर्ता मानकर अपनी महिमा को समझकर अक्षर ब्रह्म में रमण करता है, तब वह शुद्ध चेतन अज्ञान रहित हो जाता है, फिर इन मायिक पदार्थों में जो अहं ममभाव कर लिया है, उसे छोड़कर उदासीन हो जाता है।"

महाराज परीक्षित् बोले—"भगवन्! यह तो बहुत ही गुढ़ बात आपने कह दी। इस विषय को फिर समझूँगा। अब तो आप मुझे सृष्टि-क्रम की कथा सुनाइये। यह सृष्टि कैसे हुई? ब्रह्माजी के मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा ही क्यों हुई? वे अपने आप सृष्टि करने लगे या किसी ने उन्हें उपदेश दिया?"

महाराज के प्रश्न को सुनकर हँसते हुए भगवान् शुक कहने लगे—"राजन्! यह सृष्टि-क्रम इसी प्रकार अनादि काल से चला आ रहा है। एक सौ वर्ष एक ब्रह्मा रहते हैं, फिर बदल जाते हैं। उसे महाकल्प कहते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन को कल्प कहते हैं। महाकल्प में महाप्रलय हो जाती है। कल्प में तीनों लोकों का ही प्रलय होता है। मैं इसी कल्प की बात सुनाता हूँ, जिसमें ब्रह्माजी श्रीमन्नारायण की नाभि के पद्म से उत्पन्न हुए, इसीलिये इसे पाद्म कल्प कहते हैं। इस सृष्टि के आदि में जो भगवान् ने ब्रह्माजी को उनके तप से प्रसन्न होकर भागवत

तत्व का उपदेश दिया था, वही आत्म-तत्व की प्राप्ति का एकमात्र साधन है।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"ब्रह्मन् ! सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी ने किसके आदेश से तप किया ? उन्हें तप करने की प्रेरणा किसने दी ?"

तब श्रीशुक कहने लगे—"महाराज ! सृष्टि के आदि में भगवान् श्रीमन्नारायण की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ। उस कमल से ही ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। उत्पन्न होते ही ब्रह्माजी को चारों ओर देखने की इच्छा हुई। अतः चारों दिशाओं में दो-दो नेत्र वाले चार मुख उनके उत्पन्न हो गये जिससे वे आठों दिशाओं को देख सकें। इसलिये ब्रह्माजी चतुरानन कहाये। दिशा तो दस हैं, इसलिये पहिले ब्रह्माजी के पाँच मुख हुए थे। उस पाँचवें मुख को महदेवजी ने कतर लिया था।"

इस बात को सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! अपने पिता ब्रह्माजी का पाँचवाँ सिर श्रीशिव ने क्यों काट लिया था ? ऐसा लोक विरुद्ध कार्य भगवान् भोलानाथ ने क्यों किया ? इसे भी आप हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"यह कथा तो है बहुत बड़ी इसे तो कभी समयानुसार मैं आपको फिर सुनाऊँगा। इस समय तो आप उसी सृष्टि प्रसङ्ग को सुनें, जिसे मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित् को बताया है। आप यह न समझें कि मैं सृष्टि के तत्वों का प्रकृति, विकृति आदि का निरूपण करूँगा। इस समय तो केवल इस कथा प्रसङ्ग को ही बताना है कि श्रीनारायण भगवान् ने लोकपितामह ब्रह्माजी को भागवत तत्त्व का उपदेश कैसे दिया ?"

शौनकजी बोले—"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, सूतजी ! आप जैसे उचित समझें वैसे ही सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी कहने लगे—"हाँ ब्रह्मन् ! ब्रह्माजी इधर-उधर आँख फाड़-फाड़कर देखने लगे। भगवान् ने उनके हृदय में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा पैदा कर दी थी। उत्पन्न होते ही उन्हें सृष्टि रचना की चिन्ता हुई। कैसे सृष्टि बढ़े, किस वस्तु से सर्ग वृद्धि हो ? इस चिन्ता में वे मग्न हो गये। उसी समय पता नहीं कहाँ से उन्हें 'तप-तप' ये दो शब्द सुनाई दिये ?"

ब्रह्माजी समझ गये कि बिना 'तप' के काम चलेगा नहीं। तप के ही द्वारा सम्यक् ज्ञान दृष्टि प्राप्त हो सकेगी। उसी से मैं प्रपञ्च रचना की विधि समझ सकूँगा। यही सोचकर पद्मयोनि ब्रह्माजी पद्म पर बैठकर, पद्मासन लगाकर हृदय पद्म में पुराण पुरुषोत्तम प्रभु का ध्यान करने लगे। उन्होंने दिव्य सहस्र वर्ष स्वाँस रोककर घोर तप किया। उन्होंने अपने प्राण, मन, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियों का निरोध करके मन को परब्रह्म में लगाकर समस्त लोकों को प्रकाशित करने वाला घोर तप किया।"

शौनकजी ने पूछा—"जब विषय भोगों के पदार्थ ही नहीं थे, तो ब्रह्माजी ने मन किस वस्तु से हटाया ? क्या तप किया ?"

इस पर सूतजी बोले—"शौनकजी ! आप भी जान-बूझकर ऐसी बातें पूछते हैं। अजी, इन बाह्य वस्तुओं में रखा ही क्या है ? विष की जड़ तो मन है। चञ्चलता तो सङ्कल्प से होती है। तपस्या से बिखरी वृत्तियों को सब ओर से हटाकर एक ओर लगाते हैं। ब्रह्माजी ने तपस्या द्वारा यह जानना चाहा कि मुझे उत्पन्न किसने किया है और यह सृष्टि बढ़ाने की प्रेरणा कौन मुझे कर रहा है ? इन बातों का ज्ञान न होने पर जीव स्वयं ही अपने आप जाल बनाकर मकड़ी की तरह फँस जाता है। इन बातों का ज्ञान होने पर ज्ञानी कुछ भी करे वह पाप-

पुण्य, सुख-दुःख में कभी लिप्त नहीं होता। ब्रह्माजी अपना और अपने सङ्कल्प का कारण ढूँढ़ने को मन का निरोध करके तपस्या करने लगे। मन का निरोध होना ही तप का चरम लक्ष्य है।"

"महाविष्णु भगवान् नारायण श्रीब्रह्माजी की तपस्या से संतुष्ट हुए और उन्हें अपने परम धाम वैकुण्ठ लोक के दर्शन कराये। जहाँ नित्य सत्व ही अवस्थित रहता हैं।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी ! जब वैकुण्ठ धाम में ही सत्व है, तब तो वह भी मायिक ही हुआ, क्योंकि सत्व, रज और तम ये तीनों प्राकृतिक है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग ! वहाँ यह त्रिगुणों वाला सत्व नहीं है। त्रिगुणों से परे एक मायातीत दिव्य सत्व है, जिसकी कोई उपमा ही नहीं। वह भगवान् का दिव्य गुण है। उसी के द्वारा वैकुण्ठ धाम शांत रहता है त्रिगुणों में तो उसी प्रकार ऊर्मियाँ उठती रहती हैं, जैसे समुद्र में लहरें उठती रहती हैं। वहाँ उर्मियों का क्या काम ? वहाँ तो नित्य सुख है।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! हमें वैकुण्ठ की शोभा का कुछ वर्णन सुनाइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! मेरे तो ऐसे भाग्य कहाँ जो मैं इन चर्म चक्षुओं से वैकुण्ठ के दर्शन कर सकूँ। मेरे बाबा गुरु के भी गुरु भगवान् नारदजी सदा वैकुण्ठ में आते जाते रहते हैं। उनके द्वारा जो मैंने परम्परा से कुछ वैकुण्ठ का वर्णन सुना है उसे मैं आपके सम्मुख सुनाता हूँ। आप सावधानी से श्रवण करें।"

"मुनियो ! वैकुण्ठ धाम में काल की भी दाल नहीं गलती। वह कालातीत लोक है। माया का वहाँ लेश भी नहीं, अन्य विकारों की तो बात ही क्या ? वहाँ पर भगवान् के जितने पार्षद

हैं सभी चतुर्भुज हैं, सभी के रूप, रङ्ग, रेखा, आकृति, प्रकृति, अस्त्र तथा आयुध भगवान् के ही समान हैं। उन विष्णु पार्षदों की सभी देव दैत्य वन्दना करते हैं। सबका शरीर स्वच्छ, सुन्दर और साँवले रङ्ग का है। सभी के नेत्र विकसित कमल के समान शोभायमान और आकर्षक हैं। सभी के अङ्गों पर बिजली के समान चमचमाता दिव्य पीताम्बर शोभित होता है। वे बड़े सुकुमार, कान्तिवान्, प्रभावान्, ऐश्वर्यवान्, शौर्य-वीर्यवान् हैं। सभी मणि-जटित सुवर्ण भूषणों से सदा विभूषित रहते हैं। उनकी ऐसी दिव्य आभा होती है कि उसकी कोई उपमा नहीं। मूँगे की कान्ति फीकी है, कमल की कमनीयता कम है, वैदूर्य मणि विरूप-सी प्रतीत होती है। उनके कानों में कनक के कमनीय कुण्डल चमकते रहते हैं, मस्तक पर मनोहर मुकुट दमकते रहते हैं। कण्ठ में मोतियों की मनभावनी मालायें लटकती रहती हैं। सबके हाथों में तुलसीजी की सुमिरिनी सटकती रहती है। देव-लोक की दिव्य देवाङ्गनायें भी जिस रूप को निहारकर भटकती रहती हैं। मुनियो ! वैकुण्ठ में भी कमनीय कान्ति वाली कामि-नियों का अभाव नहीं है। वहाँ भी लक्ष्मीजी की सहचरी वैकुण्ठवासिनी असंख्यों अनुपम रूप लावण्यवती अप्सरायें इधर-से-उधर बिजली की तरह चमकती रहती हैं। उनकी चमक-दमक और चाक-चिक्य के कारण वैकुण्ठ सदा जिस प्रकार मेघ-मालाओं से आच्छादित आकाश विद्युत की प्रभा से प्रभासित होता रहता है, उसी प्रकार वैकुण्ठ की शोभा दिखाई देती है।"

लक्ष्मीजी वहाँ मूर्तिमती होकर सदा निवास करती हैं। वहाँ अपने चञ्चल स्वभाव को वे त्याग देती हैं। पुराण पुरुष की पत्नी का चञ्चल होना स्वाभाविक ही है, किन्तु वहाँ श्रीहरि सदा किशोरावस्थापन्न रहते हैं। इसलिये लक्ष्मी जी सदा

उन्हीं के गुणगान में तल्लीन बनी रहती हैं। बड़ा दिव्य वहाँ एक बगीचा है। उनमें परम दिव्य-दिव्य अनेक जन्मों से अनन्त पुण्य, विविध आराधनायें करके जो वैकुण्ठ के पक्षी हुए हैं, वे सदा उन वृक्षों पर कूदते रहते हैं। शुक हैं, सारिकायें हैं, पारावत, दादुर, मयूर, चकोर सभी वहाँ सङ्गीत के ही स्वर में बोलते हैं। अनन्त पुण्यों के द्वारा युग-युग की आराधना के स्वरूप जो वहाँ के वृक्ष बने हैं, उनमें से सदा दिव्य गन्ध निकलती रहती है। उन वृक्षों की डाली पर दिव्य रेशम की डोरियों से झूला पड़ा रहता है। उस पर बड़ी लीला के साथ अपने हाव- भाव कटाक्षों से वैकुण्ठ को मोहित करती हुई लक्ष्मीजी अपनी सखियों के सहित जाकर झूलती हैं। झूलते समय जो गीत गाती हैं उनमें अपने प्राणनाथ गोविन्द के ही गुणों का बखान होता है। जब वे गोविन्द के गीत गाती हैं तो वृक्षों पर बैठे शुक, सारिका, मयूर, भ्रमर आदि लक्ष्मीजी का गुणगान करने लगते हैं, इससे वे लज्जित हो जाती हैं और भौं तानकर प्रेम के रोष से उनकी ओर ऐसे ही देखती हैं, जैसे प्रणयकोप में भरी प्रमदा अपने प्राणनाथ की ओर निहारती है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वैकुण्ठ का वर्णन करना वाणी का विषय नहीं है। ऐसे दिव्य वैकुण्ठ धाम के दर्शन ब्रह्माजी को सहस्रों, लाखों वर्ष की तपस्या के अनन्तर हुए। वहाँ ब्रह्माजी ने जाकर देखा कि समस्त संसार के स्वामी, लक्ष्मीजी के जीवनाधार, भक्तों के सर्वस्व श्रीहरि अपने नन्द, सुनन्द, सुबल और अर्हण आदि प्रधान-प्रधान पार्षदों के सहित विराजमान हैं। सभी सावधानी से भगवान की सेवा में संलग्न हैं। भगवान् तो भक्तवत्सल हैं। उनकी मुद्रा से यही प्रतीत होता है कि वे अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये सदा कातर बने रहते हैं। वे सदा यही चाहते रहते हैं कि जीव मेरी कब शरण

में आवें, कब मैं उन पर कृपा करूँ ? किन्तु मुनियो ! ये जीव तो इन तुच्छ संसारी विषयो में–इन रक्त, मूत्र मल के दुर्गन्ध-युक्त स्थानों में–रमण करने में ही अपने को परम सुखी माने बैठे हैं। विष्ठा के कीड़े को उसमें दुर्गन्धि नहीं आती, उसी में सुख समझता है। पीव के कीड़े सड़े हुए राध तथा पीव में ही घूमने में अपने को सुखी समझते हैं। जीव जब इन तुच्छ विषयों से मन को हटावे, तब वैकुण्ठ के मार्ग की ओर बढ़ सकता है।"

"हाँ, तो ब्रह्माजी ने देखा लक्ष्मीजी के गले में गलबाँही डाले हुए, अपने मुख को मन्द-मन्द मुस्कान को उनकी आँखों में घोलते हुए–किरीट, मुकुट धारण किये, रत्नजटित सिंहासन पर विराजमान हैं। उनकी चारों भुजाओं में अङ्गद, कङ्कण आदि दिव्य आभूषण शोभायमान हैं। गले में लम्बी वनमाला है, वक्षस्थल में श्रीवत्स का चिन्ह है, जिसमें लक्ष्मीजी सदा लोटती रहती हैं। दमदमाता हुआ रेशमी पीताम्बर धारण किये हैं। चारों ओर मूर्तिमान पुरुष, प्रकृति, महतत्व, अहङ्कार, पाँच कर्मेन्द्रिय–पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, पंचतन्मात्रायें, पंचभूत ये सब-के-सब दिव्य रूप से अवस्थित हैं। भगवान् पूर्ण षडैश्वर्य सम्पन्न हैं। किसी ऐश्वर्य का कोई भी अंश उनमें कम नहीं है। वे यथार्थ में भगवत पद वाच्य हैं।"

"ऐसा महाऐश्वर्य पूर्ण, सौन्दर्य की राशि, आनन्द की निधि, शोभा के धाम भगवान् के दर्शन करके ब्रह्माजी का हृदय आनन्द से भर गया। हृदय में आनन्द का ऐसा वेग उठा कि उनके शरीर में रोमाञ्च हो आया। नेत्रों से प्रेम के शीतल अश्रु निकलने लगे। वे प्रेम में इतने विभोर हुए कि अपने आपको भूल गये। इन भगवान् के दर्शन अनन्त तपस्या से, चिरकाल तक श्रद्धा और प्रेम के सहित यति-धर्म के पालन से,

उन्हीं की कृपा होने पर होते हैं। ऐसे भगवान् को अपने नेत्रों के सम्मुख देखकर ब्रह्माजी ने अपने को सम्हाला और फिर उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ भगवान् के चरणारविन्दों में प्रणाम किया।"

अपने चरणों में चतुर्भुज ब्रह्माजी को नत मस्तक देखकर, भगवान् ने अत्यन्त स्नेह के साथ, सम्पूर्ण ममता बटोरकर उन्हें प्यार किया और उनका हाथ पकड़कर अपने समीप बैठाया। उन पर कृपा की दृष्टि डाली। उनके चिन्तित मुख को देखकर भगवान् हँस पड़े और फिर उनसे बातें करने के लिये उद्यत हुए।"

छप्पय

परम दिव्य वैकुण्ठ कान्ति ऐश्वर्य अमित जहँ।
सुखासीन परिवार पारषद सह श्रीहरि तहँ॥
नारायनकूँ निरखि नीर नयननि में छायौ।
पकरि बाँह भगवान पुत्रकूँ ढिँग बैठायौ॥
वेदगरभतैं विष्णु वर, बोले बचन सुधासने।
वत्स! बताओ बात सब, सृष्टि समय च्यौं अनमने॥

पञ्चश्लोकी भागवत

[९५]

श्रीभगवानुवाच

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् ।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ।।
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः ।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ।।
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ।।
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ।।
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ।।
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा ।।*

(श्री० भा० २ स्क० ९ अ० ३० से ३५ श्लोक)

---

* श्री भगवान् ने ब्रह्माजी से कहा—"हे वत्स ! मैं तुम्हें विज्ञान से समन्वित परम गुह्यज्ञान को उसके सभी अङ्गों और रहस्य के साथ बताता हूँ, उस मेरे कहे हुए ज्ञान को तुम यथावत् ग्रहण करो ।" इतना

छप्पय

बोले ब्रह्मा—बिभो ! जीव जग तत्त्व बतावें।
दिव्य भागवत धरम सार संक्षिप्त सुनावें॥
हँसि हरि बोले—मोइ कृपा ही तें सब पावें।
आदि अन्त मैं रहूँ, नेति कहि निगम जनावें॥
बिना भये दीखै गुही, माया मेरी मानियो।
अन्वय अरु व्यतिरेकतें, सदा मोइ पहिचानियो॥

साधन की सिद्धि के अनन्तर जो प्रसन्नता होती है, वह अवर्णनीय है। लगाये हुए वृक्ष को फलवान् देखकर, माता-पिता को अपने पुत्र को पुत्रवान् देखकर, कृषक की पकी हुई खेती को देखकर, गुरु को सर्वगुण सम्पन्न विद्वान् हुए योग्य

कहकर पाँच श्लोकों में ही समस्त भागवत का सार बताया। भगवान् बोले—"मैं जितना हूँ, मेरा जैसा भाव है, मेरा जैसा रूप तथा गुण कर्म हैं इन सबका तत्त्वतः ज्ञान तुम्हें मेरी ही कृपा से हो जायगा। सृष्टि से पूर्व मैं ही था, उस समय सत् असत् और इनसे परे जो प्रकृति है, ये कुछ नहीं थे। सृष्टि के अन्त में मैं ही रहूँगा। यह जो दृश्यमान जगत् है वह भी मैं ही हूँ और जो कुछ बचा रहता है वह भी मैं ही हूँ। बिना अर्थ के जो आभास की भाँति प्रतीत होता है, आत्मा में नित्य विद्यमान् होने पर भी जो तम की भाँति प्रतीत न हो, उसे ही आत्मा की माया समझो। जिस प्रकार छोटे-बड़े सभी जीवों में ये पञ्चभूत प्रविष्ट हुए बिना भी प्रविष्ट हुए से प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार मैं भी सम्पूर्ण प्राणियों में उनके आत्मस्वरूप से स्थित होता हुआ भी सर्वदा उनसे पृथक् ही हूँ। अन्वय और व्यतिरेक दोनों कारणों से यही सिद्ध होता है कि वह सदा और सर्वत्र व्याप्त है। हे ब्रह्मन् ! बस, आत्मतत्त्व के जानने की इच्छा वालों को इतना ही जानने योग्य है। जिसने इतना जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया।"

शिष्य को देखकर, योग्य पिता को अच्छा घर-वर देखकर दी हुई कन्या को सुखी देखकर, विवाह के अनन्तर परस्पर वर-वधू को अपने-अपने अनुकूल जोड़ी देखकर, इन सबको जितनी प्रसन्नता होती है। उससे कोटि गुणी प्रसन्नता भक्त को भगवद् दर्शनों से होती है। भगवान् कृपा करके साधक की साधना को सफल बना दें, अपने अति दुर्लभ दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त करा दें, उस समय जो हर्ष होता है वह वाणी का विषय नहीं, अनुभव करने की वस्तु है। दिव्य सहस्र वर्ष के अनन्तर स्वयम्भू चतुरानन को मायापति श्रीहरि के दिव्य दर्शनों का सुअवसर प्राप्त हुआ। केवल दर्शन ही नहीं हुए, भगवान् ने उनके ऊपर कृपा भी की, उन्हें अपनाया, बाँह पकड़कर अपने समीप बैठाया, तब तो ब्रह्माजी के आनन्द का पारावार नहीं रहा। वे इतने आनन्द-मग्न हो गये कि स्तुति करना ही भूल गये। इस प्रकार ब्रह्माजी को हक्के-बक्के की भाँति आवाक् हुआ देखकर मुस्कुराते हुए मधु-सूदन बोले—"हे वेदगर्भ ! आपका योग निर्व्यलीक है। आपने मेरी निष्कपट भाव से आराधना की है इसका प्रत्यक्ष प्रणाम यह है कि आप मेरे दर्शन कर रहे हैं।"

ब्रह्माजी ने हाथ जोड़कर पूछा—"प्रभो ! इस बात से कैसे समझा जाय कि मैं निष्काम हूँ।"

भगवान् बोले—"देखो, जिन्हें संसार से आशा है और दम्भ से मेरा भजन करते हैं, उन्हें तो मैं कभी दर्शन देता ही नहीं। जो एकमात्र मेरा ही आश्रय ग्रहण करके, मुझे ही सर्वश्रेष्ठ मानकर मेरी आराधना करते हैं। उन्हें ही मेरे दर्शन होते हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"स्वामिन् ! मैंने निष्काम भाव से तो आपकी आराधना की नहीं, मेरे मन में तो सृष्टि रचने की वासना है।"

भगवान् बड़े स्नेह से बोले—"देखो, ब्रह्माजी ! जो मनुष्य

दुखी होकर, जिज्ञासु होकर, अर्थार्थी होकर या ज्ञानी बनकर संसारी किसी से भी आशा न रखकर एकमात्र मुझे ही अपना त्राता, रक्षक और पालक मानकर मेरी ही आराधना करता है, उसके मैं सभी मनोरथों को पूरा करता हूँ। मेरे भक्त के मन से पहिले कोई कामना उठती ही नहीं। यदि उठे भी और वह उसकी प्राप्ति के लिये निरन्तर मेरी ही आराधना में तल्लीन बना रहे तो उसे मेरी ही प्रेरणा समझनी चाहिये। तुम्हारे हृदय में सृष्टि-की प्रेरणा मैंने ही की है। मेरी ही प्रेरणा से आप सृष्टि बढ़ाने के निमित्त इतने व्यग्र हो रहे हैं। अब तुम क्या चाहते हो ? जो चाहो, मुझसे वर माँग लो। अभी तुम्हारा मन कुछ दुखी-सा दिखायी देता है। अब दुःख का परित्याग करो। अजी, पृथ्वी में गड़े हुए धन को खोदने आदि का प्रयास तभी तक किया जाता है, जब तक कि वह बाहर न निकल आवे। जहाँ गड़े हुए सभी सोने चाँदी के हण्डे बाहर निकल आये काम बन गया, परिश्रम सफल हो गया, फिर धन का स्वामी चैन की वंशी बजाता है, मौज उड़ाता है, खूब पीता-खाता है, रागरङ्ग मचाता है या उसे रखकर ही सन्तोष मानता है। इसी प्रकार साधक पुरुष जब तक मेरा दर्शन नहीं करता तभी तक उसे कल्याण प्राप्ति के लिये परि-श्रम करना पड़ता है। तुम जब मोहित बैठे थे तो मैंने आकाश-वाणी द्वारा तुम्हें तप करने का आदेश दिया था। तुमने मेरा आदेश शिरोधार्य करके एकान्त में घोर तपस्या की। इसी के परिणाम स्वरूप तुम मेरी कृपा के भाजन हुए। मेरा अनुग्रह होने से ही तुम्हें सर्वसाधारण को न होने वाले मेरे दिव्य लोक के दुर्लभ दर्शन प्राप्त हुए।"

ब्रह्माजी ने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो ! किस साधन के द्वारा मैं आपकी कृपा का अधिकारी बन सका ?"

भगवान् बोले—"मेरी कृपा साधन साध्य नहीं है। जिस पर

मैं कृपा कर दूँ, वही मेरी ओर बढ़ता है, वही साधन में प्रवृत्त होता है।"

ब्रह्माजी ने पूछा—"प्रभो! जब आपकी उस पर कृपा ही हो गयी तो फिर आप उससे ऐसा कठिन-कठिन साधन क्यों कराते हैं?"

भगवान् ने कहा—"केवल उत्कंठा बढ़ाने के लिये, अधिकाधिक सुख प्रदान करने के लिये। भगवत् दर्शनों के लिये जितनी अधिक उत्कण्ठा होगी, उतनी ही तीव्र साधनों में प्रवृत्ति होगी। उन साधनों के करने से दिन-दिन इच्छा बलवती बनती जायगी। इच्छा जितनी ही बलवती होगी, उतना ही अधिक दर्शनों में रस आवेगा। उत्कण्ठा आनन्द की वर्धिनी है, प्रतीक्षा इष्ट के साथ तन्मयता कराती है। ये सब रसास्वादन के प्रकार हैं। इसीलिये तप को मेरा हृदय बताया है। हृदय क्या है? मैं तपमय ही हूँ। तपस्या ही मेरी आत्मा है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"प्रभो! तप का अर्थ क्या है?"

भगवान् बोले—"तप माने हैं साधन। उसी तप रूपी साधन से मैं सृष्टि करता हूँ, फिर अनेक तपों द्वारा–विविध साधनों से–उनकी रक्षा करता हूँ और अन्त में कल्प का अवसान होने पर तप रूपी साधन से ही उसका संहार भी कर डालता हूँ। उसे चाहे बल कहो, वीर्य कहो, साधन कहो, तप कहो–बात एक ही है, शब्दों का भेद है। तुमने तपस्या मेरी ही प्रेरणा से की थी। अब बोलो, क्या चाहते हो? मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? कौन-सा उत्तम वरदान मैं तुम्हें दूँ?"

यह सुनकर ब्रह्माजी बोले—"प्रभो! अब आपके सामने भी कुछ कहना पड़ेगा क्या? यदि आप न जानते होते तो कहना उचित भी था। आप तो घट-घट की जानने वाले हैं, अणु-परमाणु, में व्याप्त हैं, छोटी-से-छोटी, बड़ी-से-बड़ी वस्तु में समान भाव से

अवस्थित हैं। आप ही अन्तर्यामी रूप से सबकी बुद्धि रूपी गुहा में स्थित होकर कार्य करा रहे हैं, सबको नाच नचा रहे हैं, सबको खेल खिला रहे हैं। सभी साजों को आप ही सजा रहे हैं। सभी ठाठों को आप ही बना रहे हैं। मेरे भी मन की बात को आप जानते ही हैं, फिर भी जब आप पूछ ही रहे हैं तो आपकी आज्ञा मानकर, आपके आदेश का पालन करने के निमित्त मैं अपने मनोगत भावों को व्यक्त करता हूँ, अपनी मनोवांछित अभिलाषा को प्रकट करता हूँ। आपके सम्मुख अपनी इष्ट वस्तु की भीख माँगता हूँ। कृपा करके आप उसे मुझ दीन-हीन, साधनविहीन को प्रेमपूर्वक प्रदान करें।"

भगवान् बोले—"ब्रह्माजी! आप जो भी माँगेंगे मैं वही दूँगा। मेरे यहाँ तो कोई अदेय वस्तु है ही नहीं।" तब ब्रह्माजी ने विनीत भाव से कहा—"हे नाथ! हे स्वामिन्! जब मैं आप सर्वसमर्थ दाता के द्वार पर आ गया हूँ तो विमुख होकर न लौटूँगा। यही याचना है कि आपको सभी अरूप बतलाते हैं। अतः मैं होते हुए भी–आपके स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के रूपों को जान लूँ।"

भगवान् बोले—"ब्रह्माजी! मैं तो विष्णु हूँ, केवल जगत् की रचना करना ही मेरा काम है, प्रजा की सृष्टि करना आपका काम है, संहार करना श्रीशिव का काम है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—"नहीं, प्रभो! यह सब आपकी ही क्रीड़ा है। मकड़ी जैसे अपने ही मुख से तार निकालकर जाल बनाती है, फिर अपने ही आप इधर-से-उधर मस्त होकर घूमती रहती है। उसी प्रकार यह सब प्रपञ्च आपकी क्रीड़ा का आलय है। जब आपको सृष्टि रचनी होती है तो आप ही ब्रह्मा बन जाते हैं, पालन करते समय विष्णु कहाते हैं, और प्रलय करते समय रुद्र रूप धारण कर लेते हैं। आप किस प्रकार अपनी

अचिन्त्य माया शक्ति का आश्रय लेकर प्रपञ्च के समस्त कार्यों को करते हैं, यह बात अभी मेरी समझ में नहीं आई, आप इसे समझाइये। माया का स्वरूप बताइये। और इस प्रपञ्च का आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है, इसे भी समझाने की कृपा कीजिये।"

भगवान् ने कहा—"ब्रह्मदेव! आप तो सृष्टि के कार्य में लग जाइये। चराचर विश्व के जीवों को उनके कर्मानुसार उत्पन्न कीजिये और अधिकाधिक प्रजा की वृद्धि कीजिये।"

ब्रह्माजी हाथ जोड़कर बोले—"भगवान्! मुझे आप जो भी उपदेश तथा आदेश देंगे, उसका पालन मैं बड़ी सावधानी के साथ करूँगा। उसके पालन में कभी आलस्य अथवा प्रमाद न करूँगा। किन्तु मेरी प्रार्थना यही है कि चराचर सृष्टि को उत्पन्न करते हुए भी मैं अपने को सृष्टि का कर्ता न मान बैठूँ। अभिमान आकर मेरे अन्तःकरण में अपना आसन न जमा ले। घमंड आकर मुझे घोर अज्ञान की फँसरी में फँसाकर जकड़ न ले। मैं जो भी कुछ करूँ, उसे आपकी प्रेरणा ही समझकर करूँ।"

भगवान् बोले—"अजी, ब्रह्माजी! आप कैसी भूली-भूली-सी बातें कर रहे हैं? आपको भला अभिमान हो सकता है? आप तो मेरे सदृश ही हैं, मेरे समान ही ईश्वर हैं?"

ब्रह्माजी गद्‌गद कण्ठ से कहने लगे—"हे ईश्वरों के भी ईश्वर! अब तक तो मैं ऐसा नहीं था, किन्तु जब आपने स्नेह-पूर्वक प्यार से मेरा हाथ पकड़ लिया, मेरी भुजा पकड़ अपने चरणों के समीप बिठाया तो प्रभो! इसे सदा निभाते रहें। विवाह में वर एकबार वधू का पाणिग्रहण करता है, इसीलिये जीवन भर उसका भरण-पोषण और पालन करता है। इसी प्रकार बाँह पकड़े की लाज तो आपको निभानी ही पड़ेगी। इसीलिये मैं फिर वही प्रार्थना करता हूँ कि जिस समय आपकी

आज्ञा से–आपकी सेवा समझकर–मैं सृष्टि के कार्य में संलग्न हो जाऊँ और उद्भिज, स्वेदज, अंडज और जरायुज सभी छोटे बड़े, मध्यम ऊँचे-नीचे जीवों का विभाग करूँ, उस समय अपने आपको स्वतन्त्र स्वामी मानकर अभिमान के वशीभूत न हो जाऊँ।"

इतना सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"परम प्रेमास्पद चतुरानन! मैं तुम्हें एक परम दिव्य ज्ञान बताये देता हूँ, जिसे जान लेने पर कोई भी प्राणी मोह को प्राप्त नहीं होता।"

बड़ी उत्सुकता से ब्रह्माजी ने पूछा—"नाथ! आपका वह ज्ञान कैसा है?"

भगवान् ने कहा—"वह मेरा ज्ञान जन्म कर्मों की दिव्यता का प्रबोधक है, विज्ञान सहित वह ज्ञान है, वह रहस्य के सहित परमगुह्य तत्त्व है, वह साङ्गोपाङ्ग है। इसलिये तुम उस परात्पर गोप्य से भी गोप्य–ज्ञान को ग्रहण करो।"

ब्रह्माजी ने कहा—"प्रभो! मेरा प्रश्न तो यह था कि रूप रहित जो आप हैं, उनके स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के रूपों को मैं भली प्रकार जान सकूँ, ऐसा उपदेश अथवा आशीर्वाद दें।"

भगवान् ने कहा—"भाई! वही तो मैं बतला रहा हूँ। मेरे इस ज्ञान के धारण करने से आपको मेरे परिमाण का पता चल जायगा कि मैं कितना छोटा, बड़ा, लम्बा, चौड़ा हूँ। विश्व में मेरी सत्ता किस प्रकार व्याप्त है इसे भी जान जाओगे। मेरे रूप और गुणों का पता भी चल जायगा कि वास्तव में अरूप और निर्गुण होने पर भी मैं कैसे-कैसे मनोहर दिव्य रूप को धारण करता हूँ और सौन्दर्य, माधुर्य तथा सौष्ठव आदि अनन्त दिव्यातिदिव्य मधुरातिमधुर गुणों के द्वारा कैसे अलौकिक कर्मों को करता हूँ। इन सब विषयों का ज्ञान तुम्हें अपने अभिमान से, अपने पुरुषार्थ से कभी नहीं हो सकता। उसका केवल एकमात्र उपाय मेरी कृपा ही है। मेरी कृपा के द्वारा ही प्राणी उस परम-

पद को प्राप्त कर सकता है। यह ज्ञान अनुग्रह के ही द्वारा उपलब्ध होने वाला है। जो अपने प्रारब्धों को भोगता हुआ केवल मेरी कृपा की ही प्रतीक्षा करता रहता है, वह ही मेरे इस अलौकिक ज्ञान का अधिकारी होता है।"

ब्रह्माजी बोले—"हे भक्तवत्सल ! मैं कृतार्थ हुआ, जो आपकी कृपा का भाजन बन सका। अब यह बतावें कि यह जगत् है क्या ? इसमें सदा रहने वाला परसतत्त्व, जिसकी त्रिकाल में सत्ता समान बनी रहती है, वह क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो ब्रह्मन् ! जब तक यह भौतिक सृष्टि नहीं हुई थी, उसके पूर्व भी मैं विद्यमान था। उस समय सत्, असत् स्थूल, सूक्ष्म तथा इनकी कारण भूत प्रकृति भी नहीं थी। यह जो दृश्यमान जगत् है, वह भी मेरा ही स्वरूप है, सृष्टि के अनन्तर मैं ही रहूँगा।"

ब्रह्माजी ने कहा—"प्रभो ! यह जो नानात्व दिखाई देता है, सृष्टि में अनेक पदार्थ, अनेक रूप, अनेक रङ्ग, अनेक नाम दिखाई देते हैं। सृष्टि के अन्त में ये सब कहाँ चले जाते हैं ?"

भगवान् ने हँसकर कहा—"यह जो तुम्हें नानात्व दिखायी देता है, यह सब मेरी ही क्रीड़ा है जैसे दिवाली के दिन चीनी के बहुत से हाथी, घोड़ा, ऊँट, बछेड़ा, गूजरी, तिलङ्गा, सिपाही, फिरङ्गी, बहू, दूल्हा, बच्चा, बच्ची आदि खिलौने आते, हैं बच्चा बड़ी देर तक उनसे खेलता है-देखो यह मेरा घोड़ा है, यह इसका बछेड़ा है। उस बच्चे को ऊँट ला दो। उस खिलौने को हाथी पर चढ़ा दो। खेल-खाल के हाथी को तोड़-मरोड़ दिया। अब हाथी नहीं रहा, चीनी में विलीन हो गया। घोड़े को सिल पर पीस दिया। वह अपना नामरूप मिटाकर चीनी में समा गया। सिपाही के हाथ-पैर तोड़कर मसल दिया, सिपाही अन्तर्धान हो गया, बच गई तोले भर चीनी। बात-की-बात खेल समाप्त हो गया। अब

वहाँ न हाथी है, न घोड़ा, केवल मात्र थोड़ी-सी चीनी शेष है। इसी प्रकार प्रलय के अन्त में सबका नाश होते-होते जो शेष रह जाता है, वह मैं ही हूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"यह तो महाराज ! आपका रूप हुआ। अब अपनी माया का स्वरूप और बतावें।"

इतना सुनते ही भगवान् खिल-खिलाकर हँस पड़े और हँसते-हँसते बोले—"ब्रह्मन् ! वही तो एक भूल-भुलैया है। इसी के चक्कर में फँसकर तो ज्ञानी, भक्त, योगी, कर्मकाण्डी, जपी, तपी, संन्यासी सभी भूल जाते हैं। जिसने मेरी माया को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। मेरी माया के बिना जाने मेरा परिचय हो ही नहीं सकता। इस मेरी विचित्र बहू ने ही सबको चक्कर में डाल रखा है।"

ब्रह्माजी विस्मित होकर बोले—"प्रभो ! उसका स्वरूप तो बताइये।"

भगवान् कुछ रुक-रुककर बोले—"स्वरूप, स्वरूप क्या बताऊँ, कुछ स्वरूप हो तो बताऊँ। नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि न होती तो उसकी प्रतीति ही न होती। आँख के नीचे उँगली लगाओ तो दो सूर्य चन्द्रमा दिखाई देते हैं। वृद्धावस्था में किसी को वैसे ही दूसरे चन्द्र आदि का आभास दिखाई देता है। इसी प्रकार यह प्रपंच–किसी की सत्ता से–असत् होते हुए भी सत्-सा प्रतीत होता है। जो सत् है, वह किसी कारण से दीखता भी नहीं। जैसे कोई ऐसा भीतरी घर है, जिसमें सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता, सदा अन्धकार ही विद्यमान रहता है। वहाँ दीपक ले जाइये, अन्धकार नहीं दिखाई देगा। अन्धकार वहाँ से चला नहीं गया, किन्तु दीपक के कारण दीखता नहीं। दीपक को हटा दो, फिर ज्यों-का-त्यों अन्धकार छा जायगा। राहु नक्षत्रमण्डल से कहीं चला जाता हो, सो बात

नहीं। रहता है नक्षत्रमण्डल में ही, किन्तु दिखाई नहीं देता। यह माया के ही द्वारा हो रहा है। मेरी माया के द्वारा ही इस 'माया' के विद्वानों ने अनेक अर्थ किये हैं। जो किये हैं, सब ठीक ही हैं, क्योंकि मेरी माया में सभी सम्भव है, असम्भव नाम की वस्तु ही माया में नहीं है। शेष सभी का उसमें समावेश हो जाता है।"

ब्रह्माजी बहुत सोचकर बोले—"हाँ, प्रभो ! कुछ ठीक-ठीक समझ में आया नहीं, मामला गड़बड़-सड़बड़-सा हो रहा है। एक बार आप कहते हैं, सब मेरा ही रूप है। फिर आप कहते हैं, मैं इस प्रपंच से सर्वथा पृथक् हूँ। यह बात कैसे है ? इसे स्पष्ट समझावें।"

भगवान् बोले—"अजी, ब्रह्माजी ! यह तो मोटी बात है। देखो, जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पञ्चभूत-अपने कारण रूप से सभी बड़े भौतिक पदार्थों में व्याप्त से दिखायी देते हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा न होगा, जो इन भूतों से पृथक् हो। फिर भी पंचभूत इन सबसे पृथक् हैं। शरीरों के नाश होने पर महाभूतों का नाश नहीं होता। अपना ही शरीर पार्थिव है। इस शरीर में पंचभूतों के अतिरिक्त स्थूल और क्या पदार्थ है। आज यह शरीर मृतक हो जाय तो सब भूत अपने कारणों में लीन हो जायँगे। शरीरों के नष्ट होने से महाभूतों में कोई वृद्धि नहीं होती, अनन्त शरीरों में व्याप्त होने पर उनमें कुछ कमी नहीं होती। जैसे नदियाँ बरसात में कितने भी वेग से समुद्र में मिलें तो भी उनसे वह बढ़ नहीं जाता। ज्येष्ठ आषाढ़ में अत्यल्प जल हो जाने से उसमें कमी भी नहीं होती। उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मा स्वरूप से सर्वान्तर्यामी भाव से स्थित होते हुए भी वास्तव में उन सबसे मैं अलग ही हूँ। इन सब बातों को वेद अन्वय और व्यतिरेक से बताते हैं और अनेक हेतुओं के द्वारा यही सिद्ध करते हैं कि भगवान् ही इस विश्व में सर्वत्र और सर्वदा व्याप्त हैं।"

ब्रह्माजी ने पूछा—"अन्वय और व्यतिरेक क्या होता है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो अन्वय कहते हैं मिलाने को, एक करने को, व्यतिरेक कहते हैं अलग करने को। जैसे बहुत से लोग काले, गोरे, पीले, छोटे, मोटे, पतले हैं। इन सबका दो हाथ, दो पैर वाले पुरुषों में अन्वय है, अर्थात् एक पुरुष संज्ञा बाँध दी। अब जो जरा नामक झिल्ली से पैदा होने वाले जीव हैं, उन सबका जरायुज में समावेश कर दिया। पक्षियों की नाना जातियाँ हैं, नाम कहाँ तक गिनावें, जो अण्डे से पैदा हों, वे अंडज जीव। वृक्षों की असंख्यों जातियाँ हैं, उन सबका उद्भिज संज्ञा में समावेश कर दिया। पसीने वालों का स्वेदज में अन्वय कर दिया। अब इन चारों प्रकार को एक जीव में मिला दिया। जिसमें जीवन शक्ति हो वह जीव, सबका जीव में अन्वय कर दिया। इसी प्रकार श्रुति सब पदार्थों को कहकर अन्त में बताती है—यह सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। इसमें जो नानात्व दिखायी देता है, वह कुछ नहीं है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ, यह तो ठीक है। जिसमें सत्ता हो, चैतन्यता हो और आनन्द की अनुभूति हो, वही ब्रह्म। यह सभी जीवों में न्यूनाधिक दिखाई देता है, अतः सभी तारतम्य से सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। अब व्यतिरेक को और समझावें।"

भगवान् बोले—"अजी, व्यतिरेक कहते हैं असली वस्तु को छाँट लेने से सार-सार निकाल लो, फुक्कास को फेंक दो। इस पर एक दृष्टान्त सुनो। मथुरापुरी में एक ब्राह्मण देवता रहते थे। उनकी एक बड़ी ही सुन्दरी, रूप गुणवती सुशीला, लज्जावती, शीलवती नाम की कन्या थी। शीलवती यथा नाम तथा गुण वाली थी। लड़कियों में प्रधान गुण होना चाहिये—शील। जिसमें शील है उसमें सभी गुण आ जाते हैं। जिसने शील सङ्कोच का परित्याग कर दिया है, उसके पास से शनैः-शनैः सभी गुण जाने

लगते हैं और उनके स्थान की पूर्ति दुर्गुण आ-आकर करने लगते हैं।

"पिता ने अपनी प्यारी पुत्री शीलवती का विवाह समीप के ही एक ग्राम में बड़े सुशील विद्वान् कुमार के साथ कर दिया। उस ग्राम में और भी वहाँ की लड़कियाँ विवाही थीं। श्रावण का महीना था। वे सभी सुन्दर-सुन्दर अँगरखा, पगड़ी और रङ्ग-बिरंगे चीरा बाँध कर अपनी-अपनी ससुरालों में खाँड़ खाने के लिये जाने लगे। कोई घोड़ी पर चढ़कर जा रहा था, उसके पीछे-पीछे लोटा-डोर लेकर नाई चल रहा था। कोई बहली में बैठकर, कोई रथों में सवार होकर हँसते-खेलते ससुराल जा रहे थे। श्रावण के दिनों में सभी पिता अपनी पुत्रियों को ससुराल से घर बुला लेते हैं। शीला भी अपने पिता के घर पर ही थी। उसका पति सुन्दर कपड़े पहिनकर अपने चार और साथियों के साथ बूरा खाने के लिये ससुराल के लिये चला। उन चारों की भी ससुराल वहीं थी। सभी एक अवस्था के थे। सभी ससुराल में आने के कारण सजे-बजे थे। सभी ने वस्त्राभूषणों से अपने आप को सजाया था। विश्राम घाट पर आकर वे लोग यमुनाजी में आचमन करने के लिये आये। संयोग की बात, उसी समय शीला अपनी सुन्दरी सहेलियों को साथ लिये हुए यमुना स्नान के निमित्त आई। दूर से ही उसने अपने पति को देखा। वह लज्जा के मारे शरीर में सिमिटने लगी और एक सहेली के पीछे छिप गई। सब समझ गईं इसके स्वामी इन लोगों में ही कोई हैं। सहेलियाँ बड़े उल्लास के साथ पूछने लगीं—शीला! बहिन, बता कौन से हैं वे?" शीला चुप। कुलवती, शीलवती कन्या अपने पति को संकेत से खुलकर कैसे बता सकती है। वह द्वापर युग का समय था। यदि कलियुग होता तो वह झट चुड़ैल की तरह सिर खोलकर दाँतो को दिखाती हुई सबके सामने उसके

सिर पर सवार हो जाती और उसका नाम लेकर पुकारती—"रमेश ! तुम कब आये ? चलो चलें, यह कहकर हाथ पकड़कर ले जाती। यह अनार्यों की संस्कृति है। द्वापर युग में ऐसा निर्लज्ज व्यवहार अनार्य भी नहीं करते थे।

'हाँ तो जब लड़कियाँ उसे बार-बार तङ्ग करने लगीं और वह और भी अधिक सिकुड़ने लगी तो उन विवाहित लड़कियों में एक सियानी लड़की थी। वह ससुराल हो आई थी। ससुराल के सदाचार को जानती थी। उसने उन पाँचों की ओर देखकर कहा—"अच्छा' वे जो साँवले रङ्ग के पीला दुपट्टा ओढ़े हैं वे हैं क्या ?' शीला ने सङ्कोच से सिर हिला दिया। फिर उसने पूछा—"उनकी बगल में जो एक छरहरे से गोरे, सुरङ्गी रङ्ग की लाल पगड़ी पहिने, सफेद अँगरखा वाले हैं ?" शीला ने निषेधसूचक संकेत किया। लड़कियों की उत्सुकता बढ़ रही थी।

"उस सियानी लड़की ने पूछा—"वह जो हँस-हँसकर बातें कर रहे हैं, रेशमी नीले रङ्ग का चीरा पीली पाग पर बाँधे हैं, वे हैं ?" यह सुनकर शीला ने फिर सिर हिला दिया। उसने कहा—"अच्छा' वह जो गेहुँए रङ्ग के से हैं, जिनके अँगरखे में लाल रेशमी गोट लगी है, वे हैं ?' शीला ने फिर धीरे से सिर हिला दिया। चार को कह दिया–नेति-नेति। यह नहीं है, यह नहीं है। तब लड़कियाँ समझ गईं जो पाँचवाँ शेष रहा वही इसका पति है। उससे पूछा—"तब हम समझ गईं, वह जो मंद-मंद मुस्करा रहे हैं, सफेद अँगरखा पहिने छड़ी हिला रहे हैं वे ही हैं।" क्यों, बोलती क्यों नहीं ? अबके शीला ने कुछ नहीं कहा। वह लज्जित होकर मौन हो गई।

"इसी प्रकार भगवती श्रुति लज्जा के साथ अपने परमपति परमेश्वर के सम्बन्ध में 'नेति-नेति' कहकर–लज्जित होकर चुप हो जाती है, संकेत से बताती है। इसी का नाम है व्यतिरेक।

इस प्रकार चाहें अन्वय करके उसे समझो या सबको अलग करते-करते जो शेष रह जाय इस प्रकार समझो, दोनों भाँति से वही एक आत्मतत्व शेष रहेगा। बस, आत्मतत्व के जानने की इच्छा वालों के लिये इतना ही ज्ञातव्य विषय है, जिसने इतना जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। जिसने यह नहीं जाना उसने कुछ भी नहीं जाना।"

भगवान् ब्रह्माजी से कह रहे हैं—"ब्रह्मन्! यही मेरा सार-तत्त्व है। आप कल्पकल्पान्तरों में भी इसे न भूलें। इसे स्मरण रखते हुए आप चाहे जैसे सृष्टि करें, चाहे जितना प्रपञ्च का विस्तार करें, आपको कभी भी मोह न होगा। समझ गये न?"

ब्रह्माजी ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा—"हाँ, महाराज! मैं आपकी महत्ता, आपका स्वरूप, माया का स्वरूप समझ गया। और यह भी समझ गया कि आप अनुग्रह द्वारा ही प्राप्त होते हैं।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! 'स्पष्टवक्ता न वंचकः' स्पष्ट कहने वाला ठग नहीं होता। न जाने आप यह क्या गोल-माल कह गये। ब्रह्माजी तो ईश्वर हैं, समझ ही गये होंगे, उन्हें क्या समझना, किन्तु सच्ची बात तो यह है कि हम कुछ भी नहीं समझे। माया, सत्, असत्, अन्वय व्यतिरेक है भी, नहीं भी है। ऐसे-ऐसे पारिभाषिक शब्द कहकर आपने एक चक्कर-सा डाल दिया। हम भी आपकी हाँ-में-हाँ मिलाते गये। बिना समझे-बूझे हूँ-हूँ करते गये। बीच में कुछ कहें तो आप विक्षेप मानते हैं।"

इतना सुनते ही सूतजी बड़े जोरों से हँस पड़े और हँसते-हँसते कहने लगे—"महाभाग! आपके लिये क्या समझना-बूझना? आप तो सब समझे समझाये बैठे हैं। न जाने कब से समझते चले आ रहे हैं? यह तो आप संसारी लोगों की ओर से कह रहे हैं। इस विषय का विस्तार करना चाहते हैं,

सो मुनिवर ! इस कथा प्रसङ्ग में इस गूढ़तत्त्व का विस्तार नहीं किया जाता। मतभेद का कारण यह माया ही है। 'यथा भासो यथा तमः' के ऊपर अनेक आचार्यों ने अनेक मत प्रकट किये हैं। उन सबको कहने लगूँ तो मेरी कथा का प्रवाह रुक जायगा। कथा-प्रसङ्ग बहुत गम्भीर जटिल बन जायगा। इसलिये यहाँ तो इतना ही रहने दें। इस माया को ही लेकर अनेक वाद-विवाद हैं। कोई इसे भगवान् की नित्य शक्ति मानते हैं, कोई अघटन घटना पटीयसी बताते हैं। कोई इसे न सत्, न असत्, न सदसत् कहकर पिण्ड छुड़ाते हैं। इस प्रकार इस विषय में बड़े-बड़े मतभेद हैं। माया का चक्कर ही ऐसा है, कोई भी तर्क द्वारा इसका यथार्थ रूप निर्णय नहीं कर सके हैं। सभी अँधेरे में टटोल रहे हैं। जो सब कुछ त्यागकर मायापति की ही शरण में चले गये हैं। वे इसका मर्म जान गये हैं। उनके सामने यह छिप जाती है जैसे वाचाल स्त्री मेले-ठेले में मिले तो कैसी बढ़-बढ़कर बातें बनाती है, सभी को खरी-खोटी सुनाती है। जहाँ उसके पति से मित्रता हुई कि वह पर्दा करने लगती है, छिप जाती है। या यों समझ लो माँ का पिता के साथ जो भी सम्बन्ध हो। हमारी तो वह जननी ही है। जननी रूप से ही हम उसे जानते, मानते या आदर सत्कार करते हैं। मुनिवर ! अब आप मुझे माया के ही चक्कर में न अटकाये रहिये। कुछ-कुछ कृष्ण-कथा होने दीजिये। आगे के प्रसङ्ग को चलने दीजिये।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"अच्छी बात है सूतजी, इस गोरखधन्धे को फिर कभी अवकाश के समय समझाना। हाँ तो ब्रह्माजी भगवान् से शिक्षा पाकर आगे क्या करतेभये ? सो अब सूतजी, आपका श्रीसीतारामजी महाराज श्रीराधेश्यामजी ग्वाल-बाल भला करें ! हमें सब वृत्तान्त सुनाइये।"

इस पर सूतजी कहने लगे—"मुनियो ! इस प्रकार भगवान् नारायण, लोक पितामह ब्रह्माजी को उपदेश देकर अन्तर्धान हो गये। भगवान् के तिरोहित हो जाने पर सर्वभूतमय ब्रह्माजी ने उस दिशा को प्रणाम किया, जिस दिशा में भगवान् विराजमान थे। फिर पिछले कल्पों के अनुसार वे सृष्टि रचना में प्रवृत हुए। झुण्ड के झुण्ड जीवों को वे उसी प्रकार निकालने लगे जिस प्रकार बाजीगर बात की बात में रुपयों का ढेर लगाता जाता है। अपनी झोली में से चित्र-विचित्र वस्तुएँ निकालता जाता है।"

"एक समय की बात है, ब्रह्माजी ने एक अनुष्ठान आरम्भ किया। वह अनुष्ठान किसी सांसारिक वस्तु की प्राप्ति के निमित्त नहीं था। केवल 'प्रजा का मङ्गल हो'–यही उनका शुभ संकल्प था। उसी समय घूमते-फिरते वीणा बजाते, हरि गुण गाते ब्रह्माजी के सब पुत्रों में श्रेष्ठ महाभागवत महामुनि नारदजी वहाँ आकर इनकी सेवा करने लगे।"

जिस प्रकार शौनकादि मुनि सूतजी से पूछते हैं उसी प्रकार महाराज परीक्षित् महामुनि शुकदेव जी से पूछते हैं— "मुनिवर ! नारद जी तो ब्रह्माजी के पुत्र ही ठहरे। वे क्या कुछ समझना चाहते थे, या कर्तव्य बुद्धि से निष्काम ही सेवा कर रहे थे ?"

इस पर शुकदेवजी बोले—"राजन् ! आप निष्काम किसे समझे बैठे हैं ? वास्तव में सकाम तो वह है, जो इन्द्रिय सांसारिक कामना से–भोगों के लिये–कर्म किये जायँ जो भगवत् तत्त्व समझने को केवल भगवान् की प्रसन्नता के निमित्त ही कर्म किये जाते हैं वे ही निष्काम कर्म कहलाते हैं। सो नारदजी ने भी मायापति भगवान् का कर्म जानने की इच्छा से बड़े सुन्दर शील के साथ, अत्यन्त विनय के साथ, इन समस्त इन्द्रियों

को विषयों से हटाकर, अपने ज्ञानी पिता ब्रह्माजी की मनोयोग के साथ सेवा करने लगे। इस प्रकार सेवा द्वारा उन्होंने अपने पिता को सन्तुष्ट किया। नारदजी ने जब देखा–मेरे जगद्भावन पिता मेरी सेवा से सन्तुष्ट हैं, तब उन्होंने ये ही प्रश्न उनसे पूछे। तब पिताजी ने उन्हें, दस लक्षणों वाली श्रीमद्भागवत का उपदेश दिया। इस दस लक्षणों में ही आपके जितने चालीस के लगभग पिछले प्रश्न हैं, उन सबका समावेश हो जाता है। उन दस लक्षणों को श्रद्धापूर्वक सुनकर तथा समझकर मनुष्य निस्सन्देह हो जाता है। अपने पिता से सीखकर उसी को श्रीनारदजी ने मेरे पिता को सुनाया, जब वे शोकसागर में मग्न थे। उन अपने पिता से वह सब मैंने सुना। अब आपने भी उससे मिलते-जुलते ही बहुत से प्रश्न पूछे हैं। उन सबका उत्तर मैं इस दस लक्षणों वाली श्रीमद्भागवत के ही द्वारा दूँगा। आप सावधान होकर सुनें।"

सूतजी मुनियों से कहने लगे—"मुनियो! इतना कहकर मेरे गुरुदेव ने दस लक्षणों वाले इस श्रीमद्भागवत महापुराण का आरम्भ किया।"

छप्पय

वेदगर्भ ! सुनु सबहिँ शास्त्रको सार सुनाऊँ।
हूँ ब्यापक सर्वत्र सर्वदा नहीं लखाऊँ॥
जाहि जानि जग रचो मोह होवै नहिँ कबहूँ।
दैकें सद् उपदेश भये अन्तरहित हरिहूँ॥
बीणाबादक देवऋषि, सुनी पितातें भागवति।
तिनि उपदेशे मम जनक, तोहिँ सुनाऊँ सो नृपति॥

दस लक्षण वाली भागवत

[९६]

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥*

(श्री० भा० २ स्क० १० अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

जामें सर्ग, बिसर्ग स्थान, पोषण, ऊती सब ।
मन्वन्तर ईशानुकथा सुनु लक्षण नृप ! अब ॥
है निरोध पुनि मुक्ति दशम आश्रय बतलावें ।
दशम तत्त्वकी सिद्धि हेतु नौऊ कहलावें ॥
श्रुतितें अरु बहु अर्थतें, साकछात कोई कहें ।
जापै हरि किरपा करें, भक्ति अहैतुकि ते लहें ॥

किसी भी विषय का निरूपण करने के पूर्व संक्षेप में उनके भेद लक्षण बताकर विद्वान् तब उसकी व्याख्या किया करते

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"इस भागवत शास्त्र में सर्ग, विसर्ग स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध मुक्ति और आश्रय—ये दस विषय हैं। इन सब में से दशवें आश्रय की ही विशुद्धि के लिये, उसी का यथार्थ मर्म जानने के लिये—महात्माओं ने शेष नौओं का लक्षण किया है।"

हैं। महाराज परीक्षित् ने पीछे लगभग चालीस प्रश्न किये थे। आचार्य भगवान् शुक उन प्रश्नों को भूले नहीं हैं। उन प्रश्नों के ही उत्तर देने का उपक्रम बाँध रहे हैं। महाराज के समस्त प्रश्नों का उत्तर वे श्रीमद्भागवत से ही देंगे। अतः पहिले भागवत की उत्पत्ति और उसका मूल स्वरूप समझाया। बीज छोटा होता है, जब उसमें से अंकुर निकलकर पल्लवित और पुष्पित होकर वृक्ष बन जाता है और फल भी आने लगते हैं तो वही बीज का विस्तार कहलाता है, मूल भागवत का बीज पाँच श्लोकों में ही है। जिसका उपदेश भगवान् ने सृष्टि के आदि में लोक पितामह ब्रह्मा को किया था। मूल बताकर फिर अपनी परम्परा बताकर यह सिद्ध किया कि मेरा ज्ञान ऐसा नहीं है कि जो वैसे ही इधर-उधर से सुन लिया हो, वह परम्परागत है। सम्प्रदाय-पुरस्सर है और हमारे सम्प्रदाय के मूल पुरुष हैं श्रीमन्नारायण। इस प्रकार शास्त्र का विषय, प्रयोजन सम्बन्ध और अधिकारी बताकर लक्षण बताते हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित् से कहने लगे—"राजन्! आपके जितने प्रश्न हैं, वे सब पुराण सम्मत हैं। इन सबका पुराणों में निरूपण है।"

महाराज ने पूछा—"प्रभो! पुराण किसे कहते हैं, पुराण के लक्षण क्या हैं? पुराण सब कितने हैं?"

श्रीशुक बोले—"जिसमें पुराने आख्यान हों, वेद के संक्षिप्त वचनों की व्याख्या की गयी हो, उन्हें पुराण कहते हैं। पुराण असंख्य हैं, किन्तु इस समय अठारह महापुराण, अठारह उप-पुराण और अठारह ही औपपुराण, इतने प्रसिद्ध हैं सभी का संग्रह मेरे पिता भगवान् व्यासदेव ने किया है। दस लक्षण जिसमें हों, उसे पुराण कहते हैं और जिसमें पाँच ही हों वह उपपुराण कहलाता है। वे दश लक्षण ये हैं–सर्ग, विसर्ग,

स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और दशवाँ आश्रय कहलाता है। आश्रय ही प्रधान है, उसी की सिद्धि के लिये शेष नौ का कथन है। जैसे (१) दुहनी लेकर गौ के समीप जाना, (२) बछड़ा छोड़ना, उसे सुहलाना, (३) स्तन धोकर उनका दुहनी से संयोग करना, (४) दूध दुहना, (५) उसे गरम करना, (६) जामन देकर जमाना, (७) बने हुए दही को मथने के लिये मथानी, रई, रस्सी जुटाना, (८) दही को रई से निरन्तर मथते रहना, (९) ऊपर आये हुए झागों के सहित मक्खन के कणों को एकत्रित करना और (१०) लौंदा बनाकर पट्ट से उसे हाथ से निकाल लेना। यहाँ दूध दुहने से लेकर मक्खन का लौंदा निकालने तक जितने उपक्रम हैं, सभी आवश्यक हैं। किन्तु उन सब में प्रधान है मक्खन का लौंदा। उसी के लिये ये सब किये गये हैं। इसी प्रकार आश्रय तत्त्व की सिद्धि के लिये ही सर्ग-विसर्ग आदि का वर्णन है। इसी को कहीं श्रुति ने वाक्यों के द्वारा, कहीं तात्पर्य से और कहीं साक्षात् रूप से वर्णन किया है।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"प्रभो ! आपने कहा कि तुम्हारे प्रश्न पुराण सम्बन्धी हैं तो आप मुझे कौन-सा पुराण सुनावेंगे। सब पुराण श्रवण करने का समय नहीं है। मेरी मृत्यु के सात दिन ही हैं। सात में जो समाप्त हो जाय और जिसमें मेरे सभी प्रश्नों का साङ्गोपाङ्ग उत्तर मिल जाय, वही पुराण मुझे सुनाइये।"

इस पर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्, मैं आपको श्रीमद्भागवत् महापुराण सुनाऊँगा। उसमें आपके सभी प्रश्नों के उत्तर मिल जायँगे, यह सभी पुराणों का तिलक रूप है। इससे बढ़कर कोई पुराण नहीं। पुराण के जो दस लक्षण बताये गये हैं, वे सब इसमें विद्यमान हैं।"

इस पर महाराज ने कहा—"भगवन्! आपने जो मुझे पुराण के दस लक्षण बताये हैं, उन सबकी मैं क्रमशः संक्षेप में व्याख्या सुनना चाहता हूँ। पहिले यही बतावें कि 'सर्ग' किसे कहते हैं?"

भगवान् शुक ने कहा—"हे नृपवर्य! ब्रह्मा की जो एक अचिन्त्य शक्ति है मूल प्रकृति, उसमें जब काल कर्मों के अधीन क्षोभ उत्पन्न होता है तो उसमें कुछ क्रिया होने लगती है। सत्त्व, रज और तम जब तीनों समान भाव से रहते हैं तो उसे प्रकृति कहते हैं। उस समय वह कुछ भी करने में समर्थ नहीं होती। जैसे दोनों पैरों को मिलाकर समान उठावें तो चल नहीं सकते। एक कुछ मुड़कर आगे हो, एक पीछे हो, दोनों में कुछ विषमता हो तो गमन हो सकता है। पति-पत्नी एक वय, एक रंग, एक रूप, एक बराबर के हों तो उनसे संतति नहीं हो सकती। दोनों में कुछ छोटा-बड़ापन, कुछ विषमता होने से ही आगे का वंश बढ़ सकता है। भाव यह है कि साम्यावस्था निश्चेष्ठ होती है। विषमता में ही हलचल, वृद्धि, क्षय, लड़ाई-झगड़े, मार-धाड़ आदि सम्भव हैं। जब मूल प्रकृति से पृथ्वी, जल, वायु और आकाश ये पंचभूत तथा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पंचतन्त्रमात्रायें, वाक, पाणि पाद, लिङ्ग, गुदा, ये पंचकर्मेन्द्रियाँ, आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन तथा महत्त्व और अहंकार ये दो और तीन तत्त्व जब ये सब उत्पन्न होते हैं तो इसे सर्ग कहते हैं।"

इस पर फिर महाराज ने पूछा—"महाराज! विसर्ग क्या हुआ? अब विसर्ग के लक्षण बताइये।"

इस पर महामुनि श्रीशुक ने कहा—"जो विशेष रूप से सर्ग है उसी को विसर्ग कहते हैं। विराट् पुरुष के सम्बन्ध से जो

अनेक आकृति वाले, चित्र-विचित्र कर्म करने वाले नाना जाति के असंख्य जीवों को उत्पत्ति का ही नाम विसर्ग है।"

"स्थान की क्या परिभाषा है" महाराज ने पूछा।

तब श्रीशुक बोले—"राजन्! वस्तुएँ उत्पन्न तो होती जायँ किन्तु उनको मर्यादा में रखने की व्यवस्था न हो तो वे बेकार हो जायँगी। अत्तः उत्पन्न हुए पदार्थों का यथावत मर्यादा में रखना, उन्हें मर्यादा से बाहर न होने देना इसी का नाम 'स्थान' है। जैसे कोई यन्त्र है, उसमें चाभी देने से वह चलने लगता है, यदि वह मर्यादा में न रखा जाय तो चलता ही रहेगा, किधर जायगा, क्या अनर्थ कर डालेगा, जब तक उसे कोई मर्यादा में रखने वाला न हो, तब तक वह इष्ट की प्राप्ति नहीं करा सकता। इसलिये सृष्टि सम्बन्धी पदार्थों को मर्यादा में रखने से भगवान् का उत्कर्ष प्रकट होता है, वही स्थान है।"

"फिर पोषण क्या रहा?" महाराज ने पूछा।

श्रीशुक बोले—"राजन्! पोषण और कोई वस्तु नहीं। भगवान् के अनुग्रह को ही पोषण कहते हैं। बिना भगवत् अनुग्रह के न तो साधन आरम्भ हो सकता है, न किसी प्रकार की सिद्धि ही प्राप्त हो सकती है। अतः सृष्टि कार्य पोषण से ही वृद्धि को प्राप्त होता है। वृक्ष लगा तो दिया किन्तु उसका पालन-पोषण न करें तो वह सूख जायगा, फल न दे सकेगा।"

फिर महाराज परीक्षित् बोले—"मन्वन्तर की क्या परिभाषा है? मन्वन्तर में भगवान् क्या करते हैं?"

यह सुनकर शुकदेवजी ने कहा—"राजन्! आठ पहर का एक रात्रि दिन कहलाता है। तीस दिनों का एक महीना। बारह महीने का एक वर्ष। हमारा एक वर्ष देवताओं का एक दिन कहलाता है। इसी दिन के परिमाण से तीन सौ साठ दिनों का तेवताओं का एक वर्ष होता है। ऐसे हजार दिव्य वर्ष का कलि,

दो हजार का द्वापर, तीन हजार का त्रेता और चार हजार का सत्ययुग। इनमें क्रम से दो, चार, छः और आठ सौ वर्ष के सन्धि सन्ध्यांश और होते हैं। इस प्रकार बारह हजार दिव्य वर्षों की एक चौकड़ी कहलाती है। ऐसी चौकड़ी हजार बार जब बीत जाती है तो उसे ब्रह्माजी का एक दिन कहते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन में चौदह मनु बदल जाते हैं, एक मनु इकहत्तर चौकड़ी से कुछ अधिक रहते हैं। उतने काल को मन्वन्तर कहते हैं। इसमें भगवान् छः रूप रखकर उस मन्वन्तर की रक्षा करते हैं। मनु, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि, देवगण और मन्वन्तर का विशेष अवतार—ये सब भगवान् के ही कला और अंशावतार होते हैं।"

फिर महाराज परीक्षित् ने कहा—"हाँ, प्रभो! मन्वन्तर का अर्थ तो मैं समझ गया, अब 'ऊति' के लक्षण और बताइये।"

श्रीशुक बोले—"राजन्! नाना जीव नाना योनियों में क्यों जन्म लेते हैं। आप कह सकते हैं, भगवान् उन्हें उन योनियों में डाल देते हैं। हाँ, यह ठीक है, सब भगवत् प्रेरणा से ही हो रहा है, फिर भी एक को वेदज्ञ ब्राह्मण बना देते हैं, दूसरे को श्वपच। एक को हाथी, दूसरे को सूकर। इसमें कुछ तो आधार होगा, नहीं तो भगवान् में वैषम्य दोष आ जायगा, किन्तु ऐसा है नहीं, उनकी सस्मत जीवों में साम्य दृष्टि है। इससे यही सिद्ध हुआ कि सभी जीव कर्म वासनाओं के ही अधीन होकर नाना योनियों में जन्म लेते हैं। आप कहेंगे, सृष्टि के आदि में जीवों की कर्म वासनायें कहाँ से आयीं, तब तक तो सृष्टि थी ही नहीं। बिना सृष्टि के कर्म हो नहीं सकते। बिना कर्मों के वासना बनती नहीं। सो, इसका उत्तर यह है कि सृष्टि का कोई आदि तो है ही नहीं। इस सृष्टि के पूर्व भी तो सृष्टि हो चुकी है, उन्हीं के कर्म जीवों के साथ लिपटे हुए थे। जैसे बहुत-सी औषधियों के

बीज जमीन में पड़े रहते हैं। हम समझते हैं वे नष्ट हो गये, किन्तु जहाँ वर्षा हुई कि वे जम आते हैं। फल पुष्प उत्पन्न करने लगते हैं। उसी प्रकार प्रलय के समय कारण रूप से वासनाओं के बीज बने रहते हैं। जहाँ सृष्टि का समय आया कि जीव शरीर धारण करके अपनी-अपनी वासनाओं के अनुसार कर्मों में स्वतः ही प्रवृत्त हो जाते हैं। आप कह सकते हैं कि—इतने असंख्य जीव हैं, इनमें कुछ गड़बड़ नहीं हो जाती ? किसी के कर्म किसी के कर्मों में मिल नहीं जाते ? सो, राजन् ! उन प्रभु की व्यवस्था अचूक है। हजारों गौओं का झुण्ड खड़ा हो। बहुत से बछड़ों को एक साथ छोड़ दो, बछड़े उनमें से अपनी माँ को ढूँढ़ लेंगे। उसी के स्तन का पान करने लगेंगे। इसी प्रकार जिसके जो कर्म होते हैं, उसी को वे पकड़ लेते हैं। इस कर्म में वासना का ही नाम 'ऊति' है।"

महाराज बोले—"हाँ, महाराज ! यह सत्य है कि जीव कर्म वासनाओं में ही बद्ध होकर सब कार्य कर रहे हैं। अब आप मुझे ईशानुकथा का मर्म समझाइये।"

महाराज परीक्षित् के प्रश्न को सुनकर श्रीशुक कहने लगे—"राजन् ! ईश कथा और उनके अनुयायी भक्त और पार्षदों की कथा को ईशानुकथा कहते हैं। भगवान् नाना योनियों में–कर्म के अधीन न होकर–स्वेच्छा से अवतार ग्रहण करते हैं, भाँति-भाँति की दिव्य अलौकिक लीलायें करते हैं, जिनके श्रवण मात्र से भवबन्धन छूट जाता है। भगवान् के अवतारों की उन्हीं प्यारी, मनभावनी, चित्ताकर्षक कथाओं का नाम ईशानुकथा है। भगवान् के समान ही उनके पार्षदों और भक्तों की सुललित कथायें होती हैं। उनमें स्थान-स्थान पर भगवत् कृपा का वर्णन होता है। वे भक्तों की कथायें भी अन्य नाना प्रकार के उपाख्यान और इतिहासों से वृद्धि को प्राप्त होती हैं। भगवान् और भक्तों के संसर्ग

से कुटिल अभक्त भी वर्णनीय और स्मरणीय बन जाते हैं। परम भागवत राम दूत श्री हनुमान्जी जगज्जननी सीताजी को खोजने गये। खोजते-खोजते वे क्रूरकर्मा राक्षसराज रावण के अन्तःपुर में घुस गये। रात्रि का समय था, रावण अपनी हजारों स्त्रियों के सहित सोया हुआ था। वहाँ भाँति-भाँति की मदिरायें, विविध जन्तुओं के मांस रखे हुए थे। आदि कवि भगवान् बाल्मीकि ने उन मांस मदिराओं का कितना विशद वर्णन किया है। जिस मदिरा का स्पर्श करने से पाप लगता है, भूल में भी एक बार ब्राह्मण पी ले तो उसका विप्रत्व नष्ट हो जाता है, ऐसी निषिद्ध वस्तुओं का वर्णन भी परम भागवत हनुमान्जी के संसर्ग से पुण्य बन गया है। असंख्यों भक्त सुन्दर काण्ड का नित्य पाठ करते समय इन अमेध्य वस्तुओं को धर्म समझकर श्रद्धा से पाठ करते हैं इस प्रकार भगवान् और भक्तों के सम्बन्ध से बढ़ी हुई सभी कथाओं का समावेश ईशानुकथा के अन्तर्गत हो जाता है।"

फिर महाराज ने पूछा—"स्वामिन्! निरोध का क्या लक्षण है?"

श्रीशुक बोले—"राजन्! भगवान् जब अपनी समस्त शक्तियों को समेटकर अपने में लीन कर लेते हैं और झपकियाँ लेते हुए योगनिद्रा को स्वीकार कर लेते हैं, उसी का नाम निरोध है। सब जीवों को अपने में रुद्ध कर लेते हैं, कैद कर लेते हैं कि अब तुम यहीं चुपचाप पड़े रहो। जैसे बनिया अपने सभी फैले हुए सामान को समेट कर दूकान में रखकर ताला लगाकर उन्हें बन्द कर देता है, ये महा दुकानदार श्रीमन्नारायण भी वही करते हैं। इसे चाहे प्रलय कह लो या संहार। साठ कहो या तीन बीसी, बात एक ही है।"

राजा ने फिर पूछा—"प्रभो! मुक्ति का भी लक्षण बतावें।"

भगवान् शुक हँसे और बोले—"राजन् ! मुक्ति के लक्षण क्या तुम्हारे कारावास में अपराधी हैं, कारावास से छूट गये, मुक्त हो गये। अज्ञान से ही लोग बँधे हैं। ममता ही बन्धन है। मोह जीव को कसे हुए है। मोह का जहाँ क्षय हुआ, मोक्ष हो गई। अज्ञानजन्य अनात्मभाव को छोड़कर आत्मा का अपने स्वरूप में हो जाना ही मुक्ति है।"

राजा बोले—"जब मुक्ति ही हो गई तो आश्रय क्या रहा ?"

श्रीशुक शीघ्रता से बोले—"अरे भैया ! आश्रय बिना कोई कैसे रह सकता है ? मुक्ति भी तो किसी के आश्रित है। संसार सर्वत्र आश्रय ही खोजता है वहाँ रहना हो तो किस आश्रय से रहे। संसार एक दूसरे के आश्रय पर ही अवलम्बित है। पुरुष अपने बड़ों का आश्रय चाहते हैं, सेवक स्वामी के आश्रय के उत्सुक हैं। पण्डित किसी राजा के आश्रय में रहने का प्रयत्न करते हैं ! स्त्री पति को अपना आश्रय मानती है। जिससे सम्पूर्ण चराचर जगत की उत्पत्ति स्थिति, और प्रलय होती है, वही पर-ब्रह्म इस सम्पूर्ण विश्व के आश्रयभूत हैं। उसी को शास्त्र पर-मात्मा कहकर वर्णन करता है।

"आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक-इन तीनों को जो जानता है, उसे आत्मा को ही सबका अनन्य आश्रय समझना चाहिये।"

इस पर राजा ने कहा—"भगवन् ! यह आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक क्या वस्तु हैं ?"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"देखो, राजन् ! मैं इस फूल को देख रहा हूँ। तो फूल हुआ अधिभूत पदार्थ, देखता किससे हूँ ? आँखों से। आँखों में देखने की शक्ति कहाँ से आई ? चक्षु के अधिष्ठातृ देवता सूर्य से। आँखें बिना सूर्य के नहीं देख सकतीं। आँखें तो वे ही हैं। अन्धेरे में सूर्य प्रकाश नहीं देता,

इससे वे नहीं देख सकतीं। इसलिये सूर्य हुआ आधिदैव, बहुत-सी आँखें ऐसी हैं, जो देखने में सुन्दर दीखती हैं, सूर्य भी रहता है। तो भी उनसे देख नहीं सकते। क्योंकि उनमें चक्षुत्व नहीं है। जो सूर्य और गोलक दोनों में प्रकाश विभाजन करता है। वह चक्षु आदि इन्द्रियों का साक्षी जीव ही अध्यात्म पुरुष है।"

"जो अध्यात्मिक पुरुष जीव हैं, इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव सूर्य आदि देवता हैं और ये समस्त आधिभौतिक दृश्य पदार्थ हैं। इनमें से एक का भी अभाव हो जाय तो हम दूसरे को नहीं जान सकते। जैसे मैं फूल को देख रहा हूँ आँख और जीवात्मा के द्वारा। फूल ही न रहे तो आँखों के देव और जीव रहते हुए भी क्या देखेंगे ? आँखों में देखने की शक्ति ही न हो तो फूल और जीव के रहते हुए भी नहीं देख सकते। फूल भी रहें, आँखें भी रहें, किन्तु जीव न रहे तो क्या देखेगा ? इन तीनों का परस्पर में अन्योन्य सम्बन्ध है। इन तीनों का भी जो साक्षी है, इन तीनों को जो जानता है वही आत्मा है, उसी को परमात्मा कहते हैं। वही सबका अनन्य आश्रय है। वह स्वयं सबका आश्रय होते हुए भी वह किसी का आश्रय नहीं। वह विभु है, सर्वान्तर्यामी और परिपूर्ण नित्य शुद्ध और कार्य कारण से रहित है। समस्त शास्त्रों का वही लक्ष्य है। ये जो सर्ग, विसर्ग स्थान आदि नव बताये हैं—ये सब इसी दशम आश्रम तत्त्व की सिद्धि के लिये हैं। वह दशम आश्रय इस भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण ही हैं। अन्य सब स्कन्ध उस दशम की परिपुष्टि के लिये ही हैं। उसी की भूमिका और उपक्रम हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह मैंने तुमसे श्रीमद्-भागवत तथा अन्य सभी पुराणों के दश लक्षणों का संक्षेप में वर्णन किया। अब इसके अनन्तर आप क्या पूछना चाहते हैं ?"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"ब्रह्मन्! मैंने दश

लत्तणों को तो समझ लिया, आप आगे इनका विस्तार करेंगे ही। अब आप मुझे इस विषय को समझाइये कि विराट् पुरुष इस ब्रह्माण्ड को फोड़कर उत्पन्न कैसे हुआ ?"

इतना सुनकर श्रीशुकदेवजी थोड़ी देर चुपचाप शान्त होकर सोचने लगे कि राजा को किस प्रकार इस गहन विषय को उपाख्यान के रूप में, सरल विधि के साथ समझाऊँ।

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहने लगे—"मुनियो ! जिस प्रकार मेरे गुरुदेव ने बड़ी सुन्दर अलंकारिक भाषा में इस गहन विषय को समझाया, उसे मैं आगे आपके सम्मुख वर्णन करूँगा। आप इसे धैर्य के साथ सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

आश्रय सबके वही अखिलपति अलख अगोचर।
रचनाकूँ विधि बनें भरनकूँ हों विश्वम्भर॥
सृष्टि समेटें सबहिँ तबहिँ हरि शिव कहलावें।
यों वे व्यापक ब्रह्म विविध विधि रूप बनावें॥
भौतिक दैविक आतमिक, तीनिहुकूँ नियमनि करें।
बालकवत् क्रीड़ा करें, रचैं ताहि पोसें हरें॥

—०—

विराट् ब्रह्माण्ड वर्णन

[९७]

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः।
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः ॥
तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्रपरिवत्सरान्।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः ॥※

(श्री० भा० २ स्क० १० अ० १०, ११ श्लोक)

छप्पय

करयो सृष्टि संकल्प रच्यो जल बसे उदरमहँ।
इन्द्रिय,मन,तनु-शक्ति रची पुनि प्राण उदित तहँ ॥
भूख प्यास जब लगी कर्ण गोलक सब निकसे।
अन्तःकरण, प्रकाश, अहं, मन, चित, धी विकसे ॥
कर्ता भोक्ता हरि नहीं, सदा रहैं निरलेप हैं।
धरें रूप तोऊ विविधि, उदासीन रचिकें रहैं ॥

※ जब इस ब्रह्माण्ड को भेदकर विराट् पुरुष बाहर निकला तो उसे अपने रहने को निवास स्थान की चिन्ता हुई। वे तो शुद्ध संकल्प थे, अतः शुद्ध जल की रचना की। उस अपने ही रचे हुए जल में वे नारायण पुरुष हजार वर्ष तक रहे। उन परम पुरुष 'नर' से उत्पन्न होने के कारण जल का नाम नीर है। उसमें जिनका अयन हो वे ही नारायण कहलाते हैं।"

शास्त्र का एक सिद्धान्त है 'जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है। जैसे एक छोटा-सा चित्र है, उसमें हाथ, पैर, आँख, कान, नाक सभी हैं, जब वह यन्त्र की सहायता से या चित्रकार के कौशल से वृहद् बनाया जाता है तो उसमें दो कान की जगह दस कान नहीं बढ़ जाते, एक नाक की जगह पाँच नाक नहीं लग जातीं वे ही सूक्ष्म चिन्ह बड़े दिखाई देने लगते हैं। इसी प्रकार इस देह रूपी पिंड में जो-जो वस्तु हैं, वे ही इस विश्व ब्रह्माण्ड में हैं। अन्तर इतना ही है कि देह भी अति सूक्ष्म व्यष्टि रूप वाली है, ब्रह्माण्ड में वे समष्टि रूप की हैं। जिस प्रकार सृष्टि-स्थिति, प्रलय प्रतिक्षण पिण्डों में होती है, उसी भाँति ब्रह्माण्डों में। इसलिये पहिले अपने को ही समझना चाहिये।

लोग ज्ञान प्राप्ति के लिये इधर-उधर भटकते फिरते हैं। अरे देवताओ! बाहर ज्ञान कहाँ धरा है, वह तो तुम्हारे भीतर ही है, उसे समझो। बहुत से पुस्तक पढ़ने को व्यग्र रहते हैं। अरे, उतावले पाठको! क्यों इन निर्जीव पुस्तकों के पीछे पड़े हो? यह पिंड ब्रह्माण्ड ही महान् ग्रन्थ है, इसमें सभी ज्ञान भरे हैं, इसके समस्त पृष्ठ खुले हैं, इन्हें तुम क्यों नहीं पढ़ते। बिना चश्मे के ही ये पढ़े जाते हैं। अज्ञान रूपी चश्मे को उतार दो, अरे! तू समझ भैया, ज्ञान के भंडार को छोड़कर—महान् सागर छोड़कर क्षुद्र तलैयों की खोज क्यों करता है? लोग कहते हैं 'हमें ज्वर आ गया।" ज्वर कहाँ से आ गया जी? क्या अयोध्या, काशी, कांची से दौड़कर तुम्हारे शरीर में घुस गया? बड़े-बड़े चिकित्सकों को दिखाते हैं। अणुवीक्षण यन्त्र लगाकर उसके जन्तुओं का अन्वीक्षण करते हैं। कैसा अज्ञान है, कैसा भ्रम है? अरे, भूले हुए बन्धुओ? ज्वर की सृष्टि तुमने ही की। वह कहीं से आया नहीं। यहीं पैदा हुआ है। तुम ही उसके जनक पिता हो। पैदा करके पुत्र को नहीं पहिचानते? मूर्खता की हद हो गई।

लोग कहते हैं 'हमें सृष्टि रहस्य समझाइये।' क्या समझावें खाक, रोज इतने बच्चे पैदा होते हैं तुमने भी पैदा किये होंगे। न किये होंगे तो देखे तो होंगे ही, विवाह न हुआ होगा तो बरात तो गये ही होंगे। बुद्धिमान् को संकेत ही यथेष्ठ समझा जाता है। इस रहस्य को समझो—बिखरी हुई चित्त वृत्ति को सूक्ष्म करके देखो। दर्शन शास्त्र और क्या कहता है, वह तो देखना ही समझाता है, इस प्रकार इस प्रपंच का दर्शन करो। इस प्रकार बुद्धि से विचार करो किन्तु इन संसारी विषयासक्त प्राणियों की बुद्धि तो अनित्य क्षणिक संसारी भोग्य पदार्थों की वासनाओं में फँसकर इतनी अशुद्ध हो गई है कि वह सामने के पदार्थों को भी नहीं देख सकती। नित्य समीप रहने वाले को भी नहीं पहिचान सकती। वह तो इन हाड़, रक्त, पीव, मल मूत्र, विष्ठा से मांस पिण्डों को सोचती रहती है। नीर्जवि चमकीली मिट्टी या कागजों के टुकड़ों में फँसी रहती है। इस क्षुद्र सौन्दर्य को ही सर्वस्व समझकर उसी की प्राप्ति में व्यग्र बनी रहती है।

मनुष्य तनिक भी सुस्थिर चित्त होकर सोचे तो उसे ज्ञात होगा कि हम कैसे मोह में फँसे हैं। स्त्री जिस पुरुष के बाहरी सौन्दर्य को स्मरण करके बेचैन बनी रहती है, पुरुष जिस स्त्री को समस्त सुखों की खानि समझकर उसके रूप-लावण्य में आसक्त होकर अन्धा बना रहता है, इसका वास्तविक रूप समझ जाय तो उसकी आँखें खुल जायँ। जिस देह में रमण करके सुखी बनना चाहता है, उसके वस्त्र उतारकर ऊपर के चमड़े को अलग करके खड़ा कर दें तो जीवित ही इसे चील, गिद्ध नोंच-नोंचकर खा जायँ। उसके लिये कितनी उपमायें, कितने विशेषण इन बैठे ठाले निठल्ले कवियों ने बना दिये हैं।

सृष्टि के जिज्ञासुओ! अपने भीतर सृष्टि का दृश्य देखो।

पिण्ड से ब्रह्माण्ड की सृष्टि का ज्ञान प्राप्त करो। तभी तुम यथार्थ तत्त्ववेत्ता बन सकोगे। यों तोते की तरह रट लिया, प्रकृति से महत्तत्व,महत्तत्व से अहङ्कार, अहङ्कार से सात्विक, राजस, तामस तीन भेद, फिर पृथ्वी, जल, तेज आदि हुए। इससे कोई लाभ नहीं। वाणी का विलास मात्र है। सृष्टि के रहस्य को समझना— यही परमार्थ पथ की प्रथम और मुख्य सीढ़ी है। जिसने सृष्टि रचना को समझ लिया उसे कभी-न-कभी सृष्टिकर्ता से भी परिचय हो जायगा। क्योंकि पुरुष का यथार्थ परिचय उसकी कला ही है। कला में ही कलाकार का हृदय अन्तर्भूत रहता है। यही सम्पूर्ण सृष्टि सर्वेश्वर की सर्वोत्कृष्ट क्रीड़ा कला है। यही सब सोचकर महाराज परीक्षित् ने श्रीशुक से पूछा—"प्रभो! विराट् पुरुष ने इस विचित्र ब्रह्माण्ड की वस्तुओं की रचना किस प्रकार की? यह मुझे बताइये।"

इस पर श्रीशुक कहने लगे—"राजन्! यह तो बड़ी रहस्य की बातें हैं। फिर भी मैं इस कथा प्रसङ्ग में उन्हें अत्यन्त संक्षेप में रूपक से सुनाता हूँ। जो मैं ब्रह्माण्ड की रचना कहूँगा, उसे पिण्ड में भी ज्यों-की-त्यों समझते जाना, क्योंकि समष्टि पुरुष का पिण्ड ही ब्रह्माण्ड कहलाता है और व्यष्टि का पिंड, पिंड के नाम से प्रसिद्ध है।"

"सुनो, वे पुराण पुरुष सो गये। सो क्या गये, स्वस्थ होकर बैठ गये। इच्छा रहित हो गये। हो क्या गये, सङ्कल्प नहीं किया। किया, कहना भी ठीक नहीं। किन्तु काम चलाने को कल्पना करो, भगवान् अपने आप में ही रमण करने लगे। अब उन्हें एक से बहुत होने की इच्छा हुई। क्यों?' हुई जी? अब तुम यह गड़बड़-घुटाला मत मचाओ। हर बात में क्यों मत पूछो। क्यों का कहीं अन्त भी तो होना चाहिये, तभी गाड़ी आगे बढ़ सकती है। हाँ तो अब तक उनका वीर्य (पराक्रम)

एक गोल अण्डे में एकत्रित होकर जमा हुआ था। सङ्कल्प से कामना उत्पन्न हुई। काम सङ्कल्प का पुत्र है। सङ्कल्प के बिना काम उत्पन्न ही नहीं हो सकता। वे प्रभु शुद्ध सङ्कल्प सत्य काम हैं, इसलिये उनका जमा हुआ वीर्य शुद्ध कामना से द्रवीभूत हुआ। इसी से शुद्ध तीर्थ रूप जल की सृष्टि हुई। उनके सङ्कल्प से उत्पन्न हुए काम ने ही उनके वीर्य में जीवन-शक्ति का सञ्चार किया। इसीलिये जल का दूसरा नाम नार है। नार की सहायता से बच्चे को उदर में आहार मिलता है। अपने उत्पन्न किये नीर में अपने आप ही प्रवेश करके उसने उसमें सहस्र वत्सर तक निवास किया। यहाँ हजार वर्ष बहुत का उपलक्षण मात्र है। अर्थात् बहुत दिन तक उसमें वास करता रहा। प्रवेश करते ही, उस द्रव का द्रव्य बन गया। द्रव्य बनते ही उसमें क्रिया का सञ्चार हुआ अब तक तो समय होते हुए भी उसकी गणना नहीं थी। जब उसने प्रवेश किया तो समय की भी गणना आरम्भ हुई कि आज एक दिन का हुआ, एक महीने का हुआ, दो महीने का हुआ, आदि-आदि। फिर उसका अपना घटने-बढ़ने का, कहाँ से क्या निकलेगा, कौन अङ्ग पहिले होगा, ऐसा स्वभाव भी द्रव्य के साथ ही होता है। क्योंकि वह चैतन्य है, इसलिये जीवन शक्ति भी होनी ही चाहिये। इसीलिये द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव स्थिति उन्हीं की सत्ता से है। इनकी सत्ता के बिना इनका अस्तित्व ही न हो।"

"अच्छा तो क्रम यों रहा कि पहले वे एक ही थे। उन्होंने एक से अनेक बनने की कामना की। एक से अनेक होने को आश्रय चाहिये। अकेला पुरुष चाहे कि मैं स्वतः सृष्टि कर लूँ, तो मानसिक चाहे जितनी रचना कर ले, प्रत्यक्ष क्रिया में तो

बिना माया का आश्रय ग्रहण किये एक से अनेक हो नहीं सकते, इसलिये उसने माया का आश्रय ग्रहण किया।"

अब आप पूछेंगे—"यह भूतिनी माया अपने आप कहाँ से टपक पड़ी? सो, इसका तो अब क्या उत्तर दें कुछ समझ में नहीं आता। यों ही समझो, उसी के आस-पास किसी देश में वह छिपी थी, संयोग से भेंट हो गई। उस पुराण पुरुष ने इस 'बहू' रूप वाली को अपने कार्य में सहकारिणी बना लिया। उससे अपने सुवर्ण के सदृश चमकीले वीर्य, स्थूल सूक्ष्म और अति सूक्ष्म, द्रव्य, देवता और जीव आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ये तीन भाग कर लिये। अर्थात् उसी वीर्य से भौतिक देह और इन्द्रियों के गोलक आदि बने। वही उनमें उनका अधिष्ठातृदेव होकर बैठ गया और उसी के वीर्य से जीवन सञ्चार करने वाला बना। कैसे बना? सो भी सुनो। इस शरीर में जीवन की मुख्य शक्ति क्या है। सूत्रात्मा अर्थात् प्रधान प्राण। प्राणों के रहने से ही प्राणी जीवित कहलाते हैं। इसलिये शरीर में प्राण ही मुख्य है। प्राण न रहे तो कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकती। निष्प्राण शरीर की सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। वह प्राण पैदा कैसे हुआ? विराट् पुरुष ने चेष्टा की तो उनके देह के अन्तर्वर्ती आकाश से इन्द्रियों में बल देने वाली शक्ति उत्पन्न हुई, जिसे वीर्य का सार ओज कहते हैं। वही शक्ति जब मन में प्रवेश करती है तो बल का नाम सह हो जाता है। 'सह' से ही साहस आता है। जब वह शक्ति शरीर में सञ्चार करके कार्य करती है तो उसी का नाम शारीरिक बल है। इस प्रकार बल के तीन प्रकार हैं। जिस प्रकार आकाश अरूप है उसी प्रकार बल का भी कोई रूप नहीं। वह ओज साहस और पराक्रम के द्वारा प्रकट होता है। समस्त इन्द्रियाँ मन आदि मुख्य प्राण के ही

अधीन हैं। जैसे सेना सेनापति के अधीन रहती है। रानी मक्खी के अधीन अन्य सभी मधुमक्खियाँ रहती हैं। जैसे राजा के अधीन सेवक होते हैं। राजा के चलने पर वे सभी चलते हैं, राजा के रुकने पर वे भी रुक जाते हैं।

"वीर्य के उस जमे कठिन बुद्-बुद् में जब मुख्य प्राणशक्ति का सञ्चार हो गया, तब तो इसमें अपने आप ही बसे हुए उन विराट् भगवान् को प्राणों का संचार होने से भूख-प्यास भी लगने लगी, क्योंकि विना प्राण के सञ्चार हुए भूख-प्यास लगती नहीं। यह नियम है कि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी होती है। अतः उसके शरीर में एक छिद्र हो गया। वही सबसे पहिले उत्पन्न हुआ। मुख्य होने से उसका नाम मुख हो गया। उस मुख में तालु बिना, रसना इन्द्रिय का मानों घर बन गया। अब सृष्टि बढ़ने लगी। रसना का घर बना तो रसना आकर रहने लगी। खाली घर में खाली हाथ हिलाते आकर बैठ जायँ तो कै दिन रह सकते हैं। अपने उपयोगी सामान भी चाहिये। इसलिये रसना के उपभोग के लिये खट्टे, मीठे, चरपरे नाना प्रकार के रसीले पदार्थों की सृष्टि हुई। उसी नार के द्वारा विराट् उनका उपभोग करने लगा, क्योंकि कोई भी पदार्थ जल के विना उत्पन्न नहीं हो सकता। हत्या की जड़ यह मुख ही है और इसमें बैठी हुई यह डाइन रसना इन्द्रिय है। रसना रसों का आस्वादन न करे तो कोई क्रिया न हो, पुरुष निस्चेष्ट बैठा रहे। जहाँ दो मुट्ठी चावल पेट में पड़े नहीं कि फिर सभी उत्पात सूझते हैं। अब मुख बन गया और खाने-पीने लगे तो वस्तुओं को माँगने के लिये बोलने की इच्छा भी उन विराट देवता को हुई तो उन सत्य सङ्कल्प भूमा पुरुष के मुख में अग्निदेव की सहायता से वाक् इन्द्रिय उत्पन्न हुई। इन सबके तीन-तीन विषय होते हैं। एक अधिष्ठातृ देवता, एक

इन्द्रिय और एक उसका विषय। जैसे तालू में आकाश देवता हैं, रसना इन्द्रिय और खाना-पीना उसका विषय है। उसी प्रकार मुख में अग्निदेवता हैं, वाक् इन्द्रिय है और उससे बातें करना-बोलना उस इन्द्रिय का विषय है।

"विराट् भगवान् जल में इतने दिनों से डुबकी लगाये पड़े थे। जब तक प्राण का सञ्चार नहीं हुआ तब तक तो कोई बात ही नहीं थी। अब जब प्राण का भी सञ्चार हुआ और खाने-पीने भी लगे तो प्राणों का जोर से सञ्चार होने से उन्हें साँस लेने की भी इच्छा हुई। इच्छा होते ही तुरन्त पनाले की तरह नाक बन गयी और उसमें दो छिद्र भी हो गये। छिद्र हो गये तो उनकी इच्छा की वृद्धि हुई, लाभ से लोभ बढ़ता ही है। उन्होंने सोचा—"कुछ सुगन्धित पदार्थ सूँघने को मिलें। बस सोचते ही घ्राण इन्द्रिय वहाँ आकर घर वाली बनकर बैठ गई। इसको दो दरवाजों वाला घर मिला। वायुदेव इस इन्द्रिय के पति बन गये। बस, दोनों मिल-जुलकर सूँघने के विषय सुख भोगने लगे।"

"अब जब खाने भी लगे, बोलने भी लगे, सूँघने भी लगे। कहीं दूर से सुगन्धि आ रही है तो इच्छा हुई-देखें, यह कहाँ से सुगन्धि आती है। ज्यों ही देखने की इच्छा हुई कि उन विराट् भगवान् के कमल के समान भीतर सफेद रङ्ग के लाल डोरों वाले काली पुतलियों से युक्त दो नेत्र, छिद्र पैदा हो गये। चक्षु इन्द्रियों ने देखा कि सभी अपना घर बसाने में लगे हैं तो मैं क्यों चूकूँ ? उसने भी सामने दिखाई देने वाले सूर्यदेव से शादी करके दोनों नेत्र गोलकों पर अपना अधिकार जमा लिया और दोनों पति-पत्नी मिलकर नाना प्रकार के दृश्य विषयों को देखकर चैन की वंशी बजाने लगे। नेत्र गोलकों के अधिष्ठातृदेव सूर्य हैं, चक्षु इन्द्रिय है और रूप उनका विषय है।"

भगवान् के शरीर में वेद तो सदा ही अन्तर्भूत रहते हैं। वेदों ने देखा कि अब तो ये निर्गुण से सगुण हो रहे हैं। अरूप से सरूप बन रहे हैं तो उनके भी वाणी हो गई, क्योंकि वे भगवान् से अभिन्न ही ठहरे। उन्होंने प्रसन्नता में भरकर गाना आरम्भ कर दिया। विराट् पुरुष अपनी बड़ी-बड़ी आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे कि वेदों के ओठ क्यों हिल रहे हैं। उन्हें भान हुआ कि ये कुछ कह रहे हैं, किन्तु क्या कह रहे हैं इसे कैसे सुनते, कान तो थे ही नहीं। ज्यों ही सुनने की इच्छा हुई कि कनेर की फूल की तरह दो कान इधर-उधर निकल पड़े और दो उनमें छिद्र हो गये। दिशाओं ने देखा हम तो रही ही जाती हैं, जल्दी से घुस गईं। इतने में ही श्रोत्रेन्द्रिय आई। दिशाओं ने कहा—"निकलो बाहर, यहाँ नहीं रह सकतीं, हम सब ब्रह्मचारिणी हैं।" श्रोत्रेन्द्रिय ने कहा—"घर मेरे लिये बना और आपने आकर अड्डा जमा लिया। मालिकिन तो मैं हूँ।"

दिशाओं ने कहा—"भले ही तू मालिकिन हो, हम दस हैं तू अकेली है। आ जा लड़ाई कर ले। हमने पहिले दखल जमा लिया है, इसलिये हमारा अधिकार पहिले है। तेरा घर है तो रहा आवे, हम क्या करें?"

श्रोत्रेन्द्रिय ने देखा, इन दशों से मैं जीत नहीं सकूँगी। इसलिये उसने हाथ जोड़कर कहा—"बहिनो! अब मैं कहाँ जाऊँ, मुझे अपने घर में रहने दो? तुम भी यहीं बनी रहो।"

दिशाओं ने कहा—"हमें तुम्हारे रहने में कोई आपत्ति नहीं है किन्तु हम ठहरीं ब्रह्मचारिणी, तू मालिकिन बनकर किसी देवता से शादी करेगी। इसलिये गृहस्थियों का सङ्ग हमें पसन्द नहीं।"

तब श्रोत्रेन्द्रिय बोली—"अच्छी बात है, मैं भी ब्रह्मचारिणी

रहूँगी। तुम सब मेरी अधिष्ठात्री देवी रहीं। मैं तुम्हारी दासी रही। इस प्रकार परस्पर में राजी नामा हो जाने पर सब वहीं रहने लगीं। अतः कानों की अधिष्ठातृ दशों दिशायें हैं, श्रोत्र इन्द्रिय है और शब्द सुनना इसका विषय है।"

अब रसना, आँख, कान, नाक ये तो हुईं। कोई दूर की अथवा समीप की वस्तु है यह जानने की इच्छा हुई कि यह कोमल है या कठिन, हलकी है या भारी, तीती है या सीरी ? यह इच्छा होते ही सम्पूर्ण शरीर पर चर्म छा गया। उसमें स्पर्शेन्द्रिय ने अपना अधिकार जमा लिया। अब ऊपर से नीचे, भीतर से बाहर इतनी बड़ी देवी घरवाली हुई तो वैसे ही लम्बा-तड़ङ्गा अधिष्ठातृदेव भी चाहिये। इसीलिये समान वायु ने उसे अपनी पत्नी बना लिया। इसलिये समान वायु अधिष्ठातृदेव, त्वचा इन्द्रिय तथा छूकर उनके विषयों को पहिचानना यह विषय हुआ। इस प्रकार विराट् पुरुष के शरीर में ज्ञानेन्द्रियों का प्रादुर्भाव हुआ। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये इन पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं। ज्ञान के पश्चात् उसकी कर्म करने की भी इच्छा हुई। क्योंकि पहिले ज्ञानेन्द्रियों द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान होता है, तभी मन उसके लिये कर्मेन्द्रियों को प्रेरित करता है। माता के गर्भ में भी बालक के पहिले सिर और ज्ञानेन्द्रियों के गोलक निकलते हैं, तब कर्मेन्द्रियाँ–हाथ, पैर आदि निकलते हैं।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन् ! यह मैंने विराट् पुरुष की ज्ञानेन्द्रियाँ जिस प्रकार प्रकट कीं, वह विषय अलङ्कार के सहित वर्णन किया। इसके अनन्तर किस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ तथा अन्य शरीरोपयोगी अङ्ग-प्रत्यङ्ग उत्पन्न हुए, उन सबका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप इस वर्णन से ऊबें नहीं। यह बड़ा आवश्यक विषय है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसके आगे जो वर्णन होगा उसे मैं ठहर कर सुनाऊँगा। इतने बड़े गहन विषय को एक साथ सुनाने से मन चंचल हो जाता है, इसलिये बीच-बीच में थोड़ा ठहर-ठहर कर सुनाना उत्तम है।"

छप्पय

प्रभु विराटतें ओज और सह बल प्रकटे सब।
पुनि उपजे ये सबहिँ विषय इन्द्रिय देवहु तब॥
तालुमाहिँ नभ देव रसन इन्द्रिय रस चाखै।
मुखमहँ बाचा, अग्निदेव बाणी बहु भाखै॥
घ्राण, चक्षु, श्रोत्रहु, त्वचा, गन्ध, रूप, शब्दहु परस।
वायु सूर्य दिग प्राण सब, क्रमशः देव भये हरष॥



विराट् पुरुष की कर्मेन्द्रियादिकों की उत्पत्ति

[९८]

हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया।
तयोस्तु बलमिन्द्रश्च आदानमुभयाश्रयम्॥
गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम्।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः॥*

(श्री० भा० २ स्क० १० अ० २४, २५ श्लोक)

छप्पय

भये हस्त जिनि काज ग्रहण सुरपति देवहु तहँ।
चलिबेकूँ द्वै चरण, विषय गति, बिष्णु देव जहँ॥
विषय कामना हेतु उपस्थ प्रजापति जामें।
पायु गुदा मलत्याग देव मित्रहु हैं तामें॥
तनु तजि जावै अन्यमहँ, नाभि अपानहु मृत्यु भय।
कुक्षि आन्त नस नदी-पति, देव तुष्टि पुष्टी विषय॥

---

* उन विराट् पुरुष ने जब विविध कार्य करने की इच्छा की तो उनके दो हाथ निकल आये। उसमें बल हस्त शक्ति इन्द्रिय हुई, इन्द्र उसके देवता हुए, उठाना, धरना, पकड़ना यह विषय हुआ। जब उन्हें इधर-से-उधर अभीष्ट स्थानों में जाने की इच्छा हुई तो उसी क्षण दो पैर निकल आये। उन चरणों के स्वयं भगवान् विष्णु देवता हैं, पाद कर्मेन्द्रियाँ हैं, गति विषय है। इन्हीं के द्वारा फिरकर मनुष्य यज्ञसाधन सम्बन्धी सामग्रियों को एकत्रित करता है।"

पिता ही पुत्र बनकर स्त्री के उदर से प्रकट होता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने पत्नी की 'जाया' संज्ञा बताई है। विराट् पुरुष ही माया का आश्रय ग्रहण करके जीव रूप से नाना रूपों को धारण करता है। सृष्टि की इच्छा रखने वाला, एक से बहुत बनने की कामना वाला विराट् पुरुष ही समस्त सृष्टि का कारण है। सत्य संकल्प और अमोघ इच्छा होने के कारण वह सृष्टि के लिये अपने शरीर में जिस वस्तु की भी आवश्यकता अनुभव करता है, वह तुरन्त प्रकट हो जाती है आधिभौतिक वस्तुएँ इन भौतिक चर्मचक्षुओं से दीखती हैं। बहुत-सी नहीं भी दीखतीं। आधिदैविक और आध्यात्मिक वस्तुओं का बुद्धि द्वारा ज्ञान होता है। जो भौतिकवादी हैं, वे किसी को इस सृष्टि कार्य में कर्ता नहीं मानते। वे कहते हैं परस्पर में मिलकर यह सब प्रपंच स्वभाव से ही हो जाता है। उनका वह मत कितना भ्रम मूलक है। इस बात पर प्रसङ्गानुसार विचार किया जायगा। इस समय तो विराट् पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन है। इस वर्णन में क्रम नहीं समझना चाहिये कि अमुक इन्द्रियों के पश्चात् ही अमुक उत्पन्न हो या पहिले सब ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति बताकर तब कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति बताई जायँ। यहाँ तो केवल यही वर्णन करना है कि आध्यात्म रूप इन्द्रिय, आधिदैविक उनके देवगण और आधिभौतिक उनके विषय—ये तीनों साथ उत्पन्न होते हैं। जहाँ रसना की उत्पत्ति का वर्णन है वहीं कर्मेन्द्रिय वाणी का भी प्रसंगानुसार वर्णन हो चुका है। इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक वाणी। इस प्रकार छः के वर्णन करने के अनन्तर श्रीशुकदेवजी अब आगे का वर्णन करते हैं।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! उस विराट् पुरुष के मनमें आई कि पत्थर की तरह एक स्थान में पड़े-पड़े क्या करेंगे, कुछ काम काज करना चाहिये। यह इच्छा होते ही ५-५ उँगलियों

और ५-५ नख वाले दो लम्बे-लम्बे हाथ उनके उस गोलाकार धड़ से उसी प्रकार निकल आये, जैसे वृक्ष के तने से बड़ी-बड़ी शाखायें निकल आती हैं। इन्द्रदेव ने सोचा—"अच्छा है, इनसे काम-काज होगा। वे उनमें घुस गये। बलवान् के सम्मुख कोई चूँ भी नहीं करता। सब उससे डरते हैं। अतः हाथों ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। इसलिये हस्तेन्द्रिय के देवता इन्द्र हुए और वस्तुओं को ग्रहण करना, यह विषय हुआ।

"अब उनकी इच्छा हुई, कहीं इधर-उधर घूमें-फिरें, कुछ वस्तुओं को चलकर लायें, अभीष्ट स्थानों में जावें इसी प्रकार मन बहलावें। यह इच्छा होते ही, दो लम्बे-लम्बे पैर भी निकल आये। ये सबसे नीचे के अङ्ग थे। सभी शरीर को उठाकर इधर-उधर ले जाने का भार इन पर था। इनको ही जमीन पर टिकना था। इसलिये इन सबसे नीचे वाली इन्द्रिय में किसी देव ने रहने की इच्छा नहीं की। तब तो विष्णु भगवान् ने कहा—"सबसे नीचे की इन्द्रिय में हम रहेंगे। जिसे कोई न अपनावे उसे हम अपनावेंगे। जिसे कोई न चाहे उसे हम चाहेंगे, जिसका सब तिरस्कार करें, उसे हम प्यार करेंगे। तुम सब देवताओं की तो भेद बुद्धि है। हमारे लिये ऊँच-नीच का भेद-भाव ही नहीं। यह कहकर चरण इन्द्रिय के स्वामी विष्णु हुए आना आना, यह उनका विषय हुआ। पैरों से चलकर ही मनुष्य जीवन साधन सामग्री, यज्ञीय वस्तुएँ एकत्रित करते हैं।"

"अब उन्होंने सोचा—"अकेले कहाँ-कहाँ घूमेंगे, कौन-कौन काज करेंगे ? अपने भी समान और भी पुत्र पैदा करें, जिनसे इस लोक का भी सुख प्राप्त हो और उसी के साथ पुत्र भी पैदा हो जायँ, जो स्वर्ग की प्राप्ति करा सकें। यह सोचते ही उपस्थेन्द्रिय उत्पन्न हो गई। प्रजापति देव ने कहा—"अच्छी बात

है, इसके देवता हम हुए।" प्रजापति के वहाँ स्थित होने पर काम विषय उत्पन्न हुआ। इसीलिये जननेन्द्रिय के प्रजापति देवता हैं, उपस्थ इन्द्रिय है और काम सुख और मूत्रोत्सर्ग, ये विषय हैं।

तालु पहिले ही उत्पन्न हुआ था। उसमें खाने-पीने को रसना जिह्वा भी उत्पन्न हो चुकी थी। खायँगे पार्थिव पदार्थ, पार्थिव पदार्थों में कुछ अंश रस का रहता है, कुछ मल का भी। रस से तो शरीर की पुष्टि होगी, किन्तु मल का भाग यदि शरीर में ही जमा होता गया तब तो यह मलालय बन जायगा। इसीलिये मल-त्याग की इच्छा होते ही तुरन्त मलद्वार उत्पन्न हो गया। मित्र देवता बैठे थे कि किसी अच्छी जगह पर अधिकार जमालें, किन्तु जब देखा अब तो सब ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय समाप्त हो रही हैं, तब तो उन्होंने सोचा—"चलो भागते भूत की चोटी हाथ लगे चोटी ही सही।" अब और अधिक प्रतीक्षा की, तब तो इससे भी हाथ धो बैठे। यह सोचकर वे उसमें प्रवेश कर गये। इसलिये उस छिद्र में पायु इन्द्रिय है, मित्र देवता हैं और मल त्याग उसका विषय है। अब विराट् पुरुष सोचने लगे—"पञ्चभूतों के शरीर में तो प्रवेश किया, यह है अनित्य, क्षणभंगुर परिवर्तनशील। वह जीर्ण शीर्ण हो गया तो इसे छोड़कर तुरन्त दूसरे शरीर में चले जायँ–ऐसा भी कोई मोरी होनी चाहिये। इतना विचार उठते ही उनके नाभि उत्पन्न हो गई। वहाँ आकर अपानवायु बैठ गई। मृत्यु ने भी इसे अपने योग्य स्थान समझकर वहाँ अपना आसन बिछा लिया और आनन्द के साथ दोनों लेट गये। हृदय में प्राणवायु का निवास है, नाभि के नीचे अपानवायु का, इनके बीच में समानवायु इनको गति को ठीक रखने वाला मध्यस्त है। जहाँ अपान और प्राण पृथक् हुए, वहाँ जय-जय श्री सियाराम हो जाती है। मृत्युदेव सभी देवताओं को साथ लिये हुए दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।"

"अब ढाँचा ठीक-ठीक बन गया। राग का ठाठ ठीक-ठीक जम गया। गाड़ी के पहिये ठीक होकर चलने योग्य हो गये। तालु बना, जिह्वा बनी, हाथ पैर बने, नाभि बनी रसना के लिये रस बने। अब विराट् पुरुष ने सोचा—"लाओ, परीक्षा करके देखें तो सही, कोई गड़बड़ तो नहीं। सब मामला ठीक-ठीक है न ? यह सोचकर उन्होंने कुछ खाया, थोड़ा जल पिया ! क्षण भर में ही वह मुख द्वार से नीचे गया। मलद्वार से उसी समय निकल गया। तब तो विराट् पुरुष चिन्तित हुए। अरे, यह तो वानक बना नहीं,गाड़ी चल नहीं सकती। जब तक खाया-पिया कुछ देर उदर में ठहरे नहीं, उसका विशुद्ध रस बने नहीं, तब तक यह शरीर कै दिन चलेगा। भौतिक शरीर का पोषण नियम से होना चाहिये। इतना सोचते ही, छोटी और बड़ी आँतें उदर में उत्पन्न हो गईं। रस आदि को बहाने वाली बहुत-सी नाड़ियाँ भी निकलने लगीं। दोनों ओर कुक्षि बन गई। आँत और कुक्षियों के देवता तो समुद्र हुए और नाड़ियों की स्वामिनी नदियाँ हुई। कुक्षियों का विषय तुष्टि और नाड़ियों का विषय सम्पूर्ण अंगों की पुष्टि करना हुआ।"

"अब वे सोचने लगे, मैं तो निःसङ्ग निर्लिप्त और अकर्ता हूँ। यह स्वाँग कैसे बन गया, यह प्रपंच कैसे रच गया ? ओ हो, यह मेरी माया का पसारा है। कैसी है मेरी माया ? यह विचार उठते ही विचार का स्थान, हृदय उत्पन्न हो गया। इन्द्रियों का नाम करण है। ये हाथ, पैर, आँख, कान, बाह्य करण अर्थात् बाहर की ओर देखने वाली इन्द्रियाँ कहाती हैं। अब भीतर ही जो देखें उसे इन्द्रिय कहते हैं। अन्तःकरण का निवास स्थान हृदय है। मन इन्द्रिय है, चमकीले चन्द्रमा उसके देवता हैं और नाना कामना, भाँति-भाँति के सङ्कल्प विकल्प करना, यह इसका विषय है।"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! यह मन इन्द्रिय स्त्री है या पुरुष ? इसका क्या रूप है ?"

यह सुनकर श्रीशुक बड़े जोर से हँस पड़े और हँसते-हँसते बोले—"राजन् ! इस मन के, सम्बन्ध में कुछ न पूछें। यह धूर्त न तो स्त्री है न पुरुष, हिजड़ा है, नपुंसक है। कभी यही स्त्री बन जाता है, यही नपुंसक हो जाता है।"

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज ! एक ही व्यक्ति चार प्रकार कैसे बन जाता है ?"

श्रीशुकदेवजी हँसे और बोले—"राजन् ! यह क्या शङ्का हुई ? आप जब राज-सिंहासन पर बैठकर राज-काज करते हैं तो राजा कहलाते हैं। जब यह यज्ञ करने को दीक्षा लेते हैं, यजमान कहलाते हैं। मौर बाँधकर विवाह करने जाते हैं तो दूल्हा कहाते हैं। प्रजा आपको राजा कहती है, आपके पुत्र आपको पिताजी कहते हैं। लड़की के लड़के नानाजी कहते हैं। बहिन के लड़के मामाजी कहते हैं, पत्नी-पति कहती है, पत्नी के भाई जीजाजी कहते हैं, पत्नी के भाई के लड़के फूफाजी कहते हैं। सास लल्लूजी कहती हैं। ससुर बच्चाजी कहते हैं। आपके गुरुजन परीक्षित् कहते हैं। एक होते हुए भी आपको लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। जिस समय जो कार्य करते हैं उसी समय लोग आपको वैसा ही कहते हैं। आप यात्रा करें तो लोग कहेंगे यात्री जा रहा है। बीमार हो जायँ तो वैद्य कहेंगे-मुझे बीमार को देखना है। इसी प्रकार जब यह नपुंसक किसी बात को निश्चय कर लेता है तो यह स्त्रीलिङ्ग बुद्धि कहलाता है। जब अपने को अहं कहता है तो यही अहंकार कहलाता है, स्त्री शरीर में घुसकर स्त्रीवत् बोलता है। वह कहता है मैं जाती हूँ, मैं आती हूँ। पुरुष शरीर में घुसकर पुरुष की तरह बोलता है—मैं आता हूँ, मैं जाता हूँ। जब चिन्ता करता है, चित्त हो जाता है। इसलिये राजन् !

यही है सब झंझट का बीज। इसे ही विष की पुड़िया समझ लो। जिसने मन को वश में कर लिया, उसने सबको वश में कर लिया। जो मन के अधीन है, मन के वश में हो गया, वह मानो संसार के वश में हो गया।"

"इस प्रकार जब विराट् पुरुष अन्न खाने और जल पीने लगा तो अन्न जल से उसके शरीर में त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा और अस्थि–ये सात धातुएँ उत्पन्न होने लगीं और जल, वायु तथा आकाश से प्राण उत्पन्न हुए। अब फिर से समझो–जितनी ये कर्ण आदिक इन्द्रियाँ हैं, इनका काम है शब्द आदि विषयों का ग्रहण करना। समस्त विषयों का ग्रहण इन्द्रियों के ही द्वारा होता है। ये शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जितने विषय हैं, वे भूतों के आदि कारण अहंकार से ही उत्पन्न हुए हैं। इसीलिये अहङ्कार पूर्वक पुरुष कहता है–यह मेरा है, क्योंकि लड़के में सभी का ममत्व होता है। ये जितने पृथ्वी आदि भूत हैं, इनके गन्ध आदि विषय हैं, सबके बाप अहंकार हैं। मन बाबू तो बैठे-बैठे व्यार्थ की बातें विचारते रहते हैं। बिला सूत कपास के धुनते-बुनते रहते हैं। हर्ष, शोक आदि जितने विकार हैं ये इन नपुंसक सरकार की ही अशरीरी सन्तानें हैं। बुद्धि तो रानी ही ठहरी। परदे में बैठीबैठी हुकुम चलाती रहती है। किसी की क्या शक्ति जो इनकी बात को टाल सके, जो इन्होंने निश्चय कर दिया, मन बाबू उसी तरह करने लगते हैं जैसे स्त्रीजित् पुरुष अपनी पत्नी की सभी आज्ञाओं को बिना चीं-चपड़ किये करता रहता है। राजन! यही विश्व ब्रह्माण्ड के विराट् पुरुष का स्थूल रूप है। जो ब्रह्माण्ड में विराट् का रूप है, वही पिण्ड में जीव का रूप है। जो वस्तुएँ ब्रह्माण्ड में हैं, वे ही पिण्ड में हैं। ब्रह्माण्ड वृहद्-राज संस्करण है और यह पिण्ड संक्षिप्त जेबी संस्करण है।"

"यह तो ब्रह्माण्ड का भीतरी रूप है। इस ब्रह्माण्ड के बाहर

भी आठ परकोटा और भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इस ब्रह्माण्ड के बाहर पहिले सूक्ष्म पृथ्वी का आवरण है, फिर जल का। इसी प्रकार तेज, वायु, आकाश, अहंतत्त्व, महत्तत्त्व, और प्रकृति तत्त्व का–इस प्रकार आठ आवरण हैं। इस इतने बड़े ब्रह्मांड से परे भगवान् का अत्यन्त सूक्ष्म रूप है।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! उन भगवान् के सूक्ष्म रूप का वर्णन करें। कैसा है, किस प्रकार रहकर इस ब्रह्माण्ड का संचालन करता है।"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! वह भगवान् का सूक्ष्म रूप तो मन और वाणी का विषय ही नहीं। उसे तो 'अवाङ्‌मनस गोचर' कहकर वेदों ने वर्णन किया है। वह अव्यक्त और निर्विशेष है। उनका न आदि है, न मध्य और न अन्त। वह तो बस, जैसा है तैसा ही है। उसे अत्यन्त सूक्ष्म ही कह सकते हैं। इस प्रकार मैंने भगवान् के विराट् रूप और सूक्ष्म रूप दोनों का ही तुम्हारे सम्मुख वर्णन किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

महाराज बोले—"प्रभो! एक शङ्का मुझे रह ही गई। यह जो आपने पञ्चभूत, पञ्च तन्मात्रा, इन्द्रियों और अन्तःकरण आदि से संयुक्त विराट् पुरुष का वर्णन किया और ब्रह्माण्ड के बाहर आठ आवरण बताकर जो भगवान् के अत्यन्त सूक्ष्म रूप का निरूपण किया, तब तो ये स्थूल सूक्ष्म दोनों ही रूप माया के ही आश्रित हुए। माया का आश्रय लेकर ही भगवान् ने विश्व ब्रह्माण्ड की रचना की। भीतर स्थूल रूप से और भीतर बाहर सूक्ष्म रूप से माया का आश्रय लेकर ही वे व्याप्त हैं। तब भगवान् के किस रूप की उपासना करें, स्थूल की या सूक्ष्म की?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! पहिले स्थूल जगत् में लगे हुए मन को विराट् रूप में स्थिर करना चाहिये। जब विराट्

में स्थिर हो जाय तो फिर उसे सूक्ष्म में लगाना चाहिये। जब सूक्ष्म में चित्त स्थिर हो जाय तो स्थूल सूक्ष्म दोनों का ही परित्याग करके इनसे परे जो स्वयं साक्षात् स्वरूप श्री नन्दनन्दन हैं उनके चरणों में जाकर इस चित्त को विलीन कर देना चाहिये। बिन्दु को सिन्धु में मिला देना चाहिये। अंश को अंशी में घोल देना चाहिये। चञ्चल चित्त को चञ्चल चूड़ामणि के चरणों में चढ़ाकर–चेष्टा रहित होकर चैन की बंशी बजाते रहना चाहिये या बजती हुई बंशी को निरन्तर सुनते रहना चाहिये।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् बोले—"यह तो महाराज! आप गोलमाल कर गये। कथावाचकों की-सी चाल चल गये। पहिले उन प्रभु को अकर्मा बताया, फिर कहा उसी की इच्छा सृष्टि रचने की हुई, उसी ने स्थूल रूप धारण किया। सूक्ष्म रूप से बाहर-भीतर व्याप्त हुआ। फिर कहा—वह दोनों से परे है। सो कैसे?"

इस पर श्रीशुक ने कहा—"राजन्! इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि जहाँ तक पहुँचे उन सबको तुम माया का ही पसार समझो। वास्तव में तो भगवान् अकर्मा ही हैं, न उन्हें कोई कर्मबन्धन है, न कर्म करने की प्रवृत्ति। फिर भी क्रीड़ा के लिये, विनोद के लिये, मन बहलाव के लिये, यह सब धूम-धाम करते रहते हैं। बैठा बनिया बाट तराजू ही तौलता रहता है। इसीलिये इस विचित्र संसार को पैदा करते हैं।"

महाराज ने कहा—"महाराज! जिनका मन चंचल होता है, जो काम करते-करते थक जाते हैं, या बैठे-बैठे ऊब जाते हैं या एक काम से घबरा जाते हैं, उनको मन बहलाने की आवश्यकता होती है। भगवान् को क्यों यह बेतुकी बात सूझी? किस बात से ऊबकर क्रीड़ा करने में प्रवृत्त हुए?"

इस पर श्रीशुक कुछ विनोद के स्वर में बोले—"अजी,

राजन् ! आप भी ऐसे प्रश्न पूछते हैं, जिनका उत्तर देना अपने को वाक् जाल में फँसाना है। अब भगवान् को क्रीड़ा करने की क्यों सूझी ? उसे तो वे ही जानें। हमारी बुद्धि तो उनकी चेरी माया की भी नतिनी है। अब दादी के विवाह में कौन से गीत गाये गये थे, कैसी बरात गई थी, इसे नतिनी पौत्री कैसे बतावे, सुनी सुनाई बात कह देती है। हम तो सदा से यही सुनते आये हैं उनको माया है, क्रीड़ा है, लीला है, विनोद है।"

"राजन् ! भगवान् सर्वसमर्थ हैं। उनके यहाँ सम्भव असम्भव कुछ नहीं। वे अपने अचिन्त्य सामर्थ्य से अकर्मा होते हुए भी सुकर्मा से बन जाते हैं। वे अरूप होते हुए भी विराट् रूप धारण कर लेते हैं। वे स्वयं ही वाच्य बन जाते हैं और स्वयं ही उसके वाचक हो जाते हैं। अपने आप ही नाम रूप वाले बन जाते हैं, स्वयं ही क्रिया शक्ति से क्रिया बनकर, कर्म करने लगते हैं। एक होते हुए भी अनेक रूपों में विभक्त हो जाते हैं। वे स्वयं ही प्रजापति, मनु देव, ऋषि पितृगण, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, गुह्यक, किन्नर, अप्सरा, नाग, सर्प, किम्पुरुष, उरग, मातृका, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक, कूष्माण्ड, उन्माद, वेताल, गण यातुधान, ग्रह, पक्षी, मृग, पशु, वृक्ष, पर्वत, सरीसृप इत्यादि-इत्यादि अनेक नाम रूपों को धारण करते हैं।"

"अपने आप ही स्थावर बन जाते हैं और स्वयं ही जङ्गम बनकर घूमने-फिरने वाले हो जाते हैं। स्वयं ही जरा नाम की झिल्ली में घुसकर जरायुज नाम वाले जीव बन जाते हैं। कहीं पक्षियों के पेट में अंडे के भीतर से पैदा होकर अण्डज तत्त्व कहलाते हैं। कहीं-कहीं पसीने से ही लूलू बाबू बनकर उन्हीं शरीरों को काटते हैं, उन्हीं का रक्त पान करके पुष्ट बन जाते हैं। कहीं पृथ्वी को फोड़कर लम्ब-तड़ंगे सीधे-सादे वृक्ष बन जाते हैं। कहीं

ऊपर से खाते हैं, नीचे के अङ्ग पुष्ट होते हैं और कहीं वृक्ष आदि में नीचे से आहार लेते हैं, ऊपर की शाखाओं और पत्र-पुष्पों को रस पहुँचाते हैं। कहीं स्थल में रहते हैं, कहीं जल-जन्तु बनकर जल में ही रहते हैं। वहीं खाते-पीते हैं वहीं सोते हैं। तीक्ष्ण धार वाली नदियों के भीतर कैसे सोते होंगे ? देव ! तुम्हीं जानो। कहीं अधर आकाश में रहकर जीवन धारण करते हैं।"

"इसलिये राजन् ! कुछ कहा नहीं जाता। वे ही वे हैं। उनकी माया अपरम्पार है। अपार तेरी माया, माया है तेरी अपार। राजन् ! उन भूमा पुरुष को प्रणाम करो, उन्हीं की शरण शरण में जाने से सब रहस्य अपने आप समझ में आ जायगा।"

छप्पय

निराकार निरलेप निराश्रय नित्य निरञ्जन।
माया आश्रय करत होहिँ साकार सगुन तन॥
उद्भिज अण्डज और जरायुज होवें स्वेदज।
स्थावर जङ्गम रूपजीव बनि प्रविशें हरि अज॥
कर्म रहित कर्ता बनहिँ, नाम रूप धारण करहिँ।
स्वयं बाच्य बाचक नृपति ! धरि तनु धरणी दुख हरहिँ॥

—:o:—

श्रीभागवत की दूसरी परम्परा का उपक्रम

[९९]

यदाह नो भवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः ।
चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान् ।।
कुत्र कौषारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंश्रितः ।
यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह ।।*

श्री० भा० २ स्क० १० अ० ४८-४६ श्लोक)

छप्पय

अजी सूतजी ! यादि बात इक आई अबई ।
गये विदुरजी तीर्थ भ्रमण हित तजिकें सबई ।।
मुनि मैत्रेय समीप ज्ञान पायौ कहँ उननें ।
का का कीन्हें प्रश्न दयौ का उत्तर तिननें ।।
सन्त समागम महँ सदा, कथा कृष्ण की होहि नित ।
सूत ! सुनाओ सरस सब, सुभ सम्बाद प्रसन्न चित ।।

---

* शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आपने पीछे कहा था, कि महा-बुद्धिमान् परमभागवत श्रीविदुरजी अपने अत्यन्त दुस्त्यज कुटुम्बियों को त्यागकर पृथ्वी के सम्पूर्ण तीर्थों की यात्रा करते रहे। सो, उस समय उनकी भेंट महामुनि श्रीमैत्रेयजी के साथ कहाँ पर हुई ? उन दोनों का आत्मज्ञान सम्बन्धी सम्वाद किस स्थल पर हुआ तथा उनके पूछने पर श्रीमैत्रेयजी ने उन्हें क्या-क्या उत्तर दिये ? इस विषय को हमें सुनाइये।"

भ्रम सदा अनजान पुरुष को होता है। जान पहिचान वाले को पहिले तो भ्रम होता ही नहीं, किसी कारण विशेष से हो जाय तो वह भ्रम शीघ्र ही निवृत्त भी हो जाता है। हमारा एक परिचित व्यक्ति है, वह कोई विचित्र रूप बनाकर सबके सामने आया है। जो उसे जानते नहीं, वे तो उसके उसी रूप को यथार्थ मानकर डरते हैं या सम्मान-सत्कार करते हैं किन्तु जो उसे जानते हैं और यह भी अनुभव करते हैं कि यह रूप इसका बनावटी है—"यथार्थ नहीं, उन्हें उससे कोई भय नहीं, उस रूप में सजे-बजे होने पर भी वे उसका वही पुराना असली रूप देखते हैं। यह छद्म रूप उनकी दृष्टि में मिथ्या है। इसी प्रकार अनादि, अज, शाश्वत, निर्विकार, निर्गुण प्रभु माया का आश्रय लेकर जब अपना विश्वरूप बना लेते हैं तो ज्ञानी पुरुष उसमें भी उनके उसी मायातीत रूप का ही दर्शन करते हैं। वे माया के चक्कर में नहीं फँसते। माया को ये कहीं से पकड़ लाये हैं। अच्छी बात है, पकड़ लावें सर्वसमर्थ हैं, ये परम स्वतन्त्र हैं, कोई रोकने-टोकने वाला नहीं, जो मन में आती है करें। हमें इस चटक-मटक वाली माया से क्या लेना ? हमें तो अपने पिता से प्रयोजन है। उससे ये भुगत लेंगे। इसलिये भगवान् चाहे माया के गुणों को धारण किये हुए हों या इनसे परे निर्लेप गुणातीत हों। योगीजन दोनों दशाओं में उन्हीं को समान भाव से देखते हैं, उनकी किसी भी दशा में विषय दृष्टि नहीं होती। अपनी माया का आश्रय लेकर वे छोटी-बड़ी, उच्च-नीच योनियों का भेद किस कारण से करते हैं, यही सोचकर महाराज परीक्षित् ने श्रीशुक से पूछा।

राजा बोले—"प्रभो ! ये नाना योनियाँ किस कारण से बनीं ? विराट् भगवान् ने इन चित्र-विचित्र कर्म करने वाली इतनी योनियों की सृष्टि किस हेतु से की ?"

श्रीशुक ने कहा—"राजन्! यह सब गुणों का खेल है। प्रकृति के जो सत्व, रज, और तम ये तीन गुण हैं, इन्हीं के द्वारा उच्च,-नीच, शुभ-अशुभ और बीच की योनियाँ होती हैं। सत्व-गुण की प्रधानता से देव आदि योनियाँ उत्पन्न होती हैं, रजोगुण की प्रधानता से कर्म से आसक्त होने वाले मनुष्य आदि की और तमोगुण की प्रधानता से कीट, पतंग, कूकर, शूकर आदि नारकी योनियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमें भी दो गुणों को दबाकर एक कुछ प्रबल हो गया, इस प्रकार तीन-तीन भेद और भी हो जाते हैं। इसी प्रकार ये सब भेद गुणों के द्वारा होते हैं। भगवान् इन सबमें समान रूप से व्याप्त हैं। उनके लिये छोटा-बड़ा, उच्च-नीच का कोई भेदभाव नहीं। यह सब तो प्रकृति और विकृति के द्वारा भेदभाव उच्च-नीच आदि कल्पित हैं।"

वे हरि जब इस जगत् की उत्पत्ति करते हैं तो स्वयं ही ब्रह्मा बन जाते हैं। जब रक्षा करनी होती है तो विष्णु बनकर नाना योनियों में अवतार धारण करके अपनी रची सृष्टि का सावधानी के साथ पालन करते हैं। जब प्रलय काल आकर उपस्थित होता है तो त्रिनेत्र रुद्र बनकर अपने ललाट के नेत्र से कालाग्नि प्रकट करके सबको भस्मसात् कर देते हैं। पैदा करते समय हर्ष नहीं, पालन करते समय गर्व नहीं, नाश करते समय दुःख नहीं, तीनों ही क्रीड़ायें उनकी हैं। एक खेल के तीन दृश्य हैं। बालक उल्लास के साथ गुब्बारा लाये। उसमें मुँह से फूँक भरकर उसे खूब फुलाकर खेलते रहे। फूला हुआ देखकर आनन्दित होते रहे। जब मन में आई, जोर से फूँक मारी और हाथ से एक थप्पड़ मारा कि फट्ट से फूट गया। फूटते समय जो शब्द हुआ, उसे सुनकर भी बड़ी प्रसन्नता हुई। एक दिन का खेल समाप्त हुआ, घर गये, माँ की गोद में जल्दी से जाकर बैठे। उसने मुँह पर हाथ फेरा, धोया, आँचल से मुँह पोंछा, काजल

लगाया, दूध पिया, सुख से शैया पर सो गये। सुबह फिर वही खेल आरम्भ हुआ। पुराण पुरुष भी बालक बन जाता है। बालकपन में सुख भी बड़ा रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब हम बच्चे थे, दिन भर खेलते रहते थे। जंगल में जाकर कच्चे-पक्के, मीठे-खट्टे जो भी फल मिल जाते, पेड़ों पर चढ़कर खाते रहते, उस समय न अजीर्ण होता था न अपच, जो कुछ खाया सब स्वाहा। अनेक प्रकार के खेल खेलते, धूप में दौड़ते फिरते। गरम-गरम रेत पर उछलने में भी एक आनन्द का अनुभव करते। कभी न लू लगी, न सिर में दर्द हुआ। जहाँ वर्षा आई वहाँ नंगे होकर वर्षा में कूदते थे। 'बरसो राम धड़ाके से, बुढ़िया मर गई फाके से, कहते हुए नाचते फिरते। सब मिलकर पूरी वर्षा को सिर पर सहते। जब वर्षा कुछ कम होने लगती तो जोर से चिल्लाते। 'बरसो राम बने दुनियाँ, खाय किसान मरै बनियाँ।' ऋषियो ! तब इन सबका हम कुछ भी अर्थ नहीं समझते थे। न कभी सरदी होती न छींक आती। अब तो थोड़ा अधिक प्रसाद पा लें तो कोष्ठबद्ध, अजीर्ण, शरीर शैथिल्य तुरन्त हो जाता है। जटाओं को भिगोकर स्नान कर लें- उसी दिन सरदी हो जाती है। अहा ! वे बालकपन के दिन कितने सुवर्ण के दिवस थे, न चिन्ता, न शोक, न भय। बस, निरन्तर खेलते रहना ही जीवन का व्यापार होता था। हम लोग कर्म बन्धनों के अधीन हैं। इसलिये इच्छा होने पर भी सदा बालक नहीं बने रह सकते। भगवान् को तो कर्म-बन्धन हैं ही नहीं। वे तो सबसे स्वतन्त्र हैं, इसलिये वे निरन्तर बालवत् क्रीड़ा करते रहते हैं। अपनी खिलौना बनाने वाली माया को साथ लेकर खेलते रहते हैं। किसी भी दशा में दुखी, विषण्णा नहीं होते। दुखी भी बनते हैं तो वह भी क्रीड़ा का एक अंग ही है, विनोद वृद्धि का ही साधन है।"

राजा ने पूछा—"प्रभो ! जब भगवान् स्वयं ही वाच्य वाचक रूप से सम्पूर्ण चराचर में हैं, तब इस माया को बीच में व्यर्थ घुसेड़ने की क्या आवश्यकता है ?"

इस पर श्रीशुक हँसे और बोले—"राजन् ! उन भूमा पुरुष के कर्तृत्व का निषेध करने के लिये, माया के द्वारा ही इस जगत् प्रपंच का आरोप किया गया है। वास्तव में इस स्वरूप भूत जगत् की उत्पत्ति आदि में उनका कर्तृत्व है ही नहीं। माया के द्वारा वे कर्ता से दिखाई देते हैं।"

इस प्रकार हे पाण्डववंश विवर्धन राजन् ! यह मैंने आपसे अत्यन्त संक्षेप में कल्प, उपकल्प और अवान्तर कल्पों की सृष्टि आदि का वर्णन किया। इस सबमें कुछ हेर-फेर से प्राकृत वैकृत सृष्टि का क्रम समान ही माना जाता है। अब काल, काल का परिणाम, कल्प और उनके अन्तर्वर्ती मन्वादिकों का प्रसङ्गानुसार आगे वर्णन करेंगे। अब तुम पाद्म कल्प की कथा सुनो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कहकर मेरे गुरुदेव भगवान् शुक कुछ देर के लिये मौन हो गये।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपने तो बड़ी गम्भीर किन्तु बहुत ही सरल भाषा में यह सृष्टि कथा अत्यन्त ही उत्तमता के साथ सुनाई। अच्छा, अब हम एक प्रश्न पूछते हैं। आप तो कथा के प्रवाह में उसे भूल ही गये होंगे।"

सूतजी ने नम्रता से कहा—"हाँ, भगवन् ! मुझे आप स्मृति दिलावें। अनेक कथा उपाख्यानों में किसी प्रसङ्ग को अधूरा छोड़ दिया होगा। बताइये उसी को अब पूरा करूँ।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"आपने पीछे हस्तिनापुर के प्रसङ्ग में यह बात कही थी कि दुर्योधन की अनीति से असन्तुष्ट होकर श्रीविदुरजी अपने समस्त प्रिय बन्धु-बान्धव और परिवार वालों का परित्याग करके तीर्थ यात्रा के निमित्त निकल गये थे।

उसी यात्रा के प्रसङ्ग में उन्होंने महामुनि भगवान् मैत्रेयजी से आत्मज्ञान की उपलब्धि की थी। सो इसी प्रसङ्ग को हमें सुनाइये। महामुनि मैत्रेय के साथ विदुरजी की भेंट कैसे हुई? उन भ्रमण करने वाले मुनि का पता उन्हें किसने बताया? यह बात उन्हें कैसे मालूम हुई कि मेरे संशयों का छेदन श्रीमैत्रेयजी के द्वारा ही होगा? मैत्रेयजी को किसने विदुरजी को ज्ञान-दान देने के लिये प्रेरित किया? इन दोनों का सम्वाद कहाँ हुआ? विदुरजी ने उनसे क्या-क्या प्रश्न किये और श्रीमैत्रेयजी ने उनके क्या-क्या उत्तर दिये? इन सब बातों को हमें बतावें। इन दोनों परम भागवत महानुभावों के सुखद-सम्वाद को हमें सुनावें।"

हमें एक यह भी शङ्का है कि एक बार तो वे धृतराष्ट्र आदि को छोड़कर चले गये, फिर दुबारा उन्हीं धृतराष्ट्र के समीप क्यों आये? इस प्रसङ्ग को आप सुनावें।"

इन बातों को सुनते ही सूतजी बड़े जोर से हँसने लगे। सूतजी को हँसते देखकर आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनकजी बोले—"सूतजी! हमारे प्रश्न कुछ गड़बड़ हुए क्या? हमने कुछ प्रसङ्ग विरुद्ध बात पूछ डाली क्या? आप इतने हँसे क्यों?"

सूतजी शीघ्रता से बोले—"नहीं, नहीं भगवन्! यह बात नहीं। मैं इसलिये हँसा कि यह प्रश्न करके तो आपने अपनी सर्वज्ञता प्रकट कर दी। आप त्रिकालज्ञ हैं, यह बात आपके इस समय के प्रश्न से भली-भाँति विदित हो गई।"

शौनकजी ने पूछा—"सो, कैसे?"

सूतजी बोले—"इसलिये कि महाराज परीक्षित् ने भी ठीक यही प्रश्न श्रीशुक भगवान् से किया था। क्योंकि इसी प्रसङ्ग में श्रीमद्भागवत की एक नवीन परम्परा, एक पृथक् सम्प्रदाय का वर्णन होगा। भगवान् मैत्रेयजी ने जो ज्ञान श्री विदुरजी को दिया था वही तो श्रीमद्भागवत तत्त्व है उसका